प्राच्य मानव-वैज्ञानिक

३

सम्पादक
डी० एन० मजुमदार
कृपा शंकर माथुर

प्राच्य मानव वैज्ञानिक

(अर्धवार्षिक)

३

१९५८

लेख-सूची

सम्पादकीय वक्तव्य

एथनोग्राफ़िक एण्ड फ़ोक कल्चर सोसाइटी, उत्तर प्रदेश की स्थापना लखनऊ में १९४५ में हुई थी। इसका लक्ष्य था नृशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय अनुसंधानों को प्रोत्साहन देना, इस प्रदेश की लोकसंस्कृतियों का अध्ययन, उत्तर भारत और विशेषतः उत्तर प्रदेश के सामाजिक और आर्थिक जीवन की गवेषणा और इस प्रदेश में रहने वाली विभिन्न जातियों, उपजातियों और जनजातियों के जीवन और संस्कृति का वैज्ञानिक विश्लेषण।

इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर सोसाइटी ने १९४७ में एक त्रैमासिक पत्र अंग्रेज़ी में निकालना प्रारम्भ किया। इसको सफलता प्राप्त हुई, और आज यह पत्र (दि ईस्टर्न एन्थ्रॉपॉलॉजिस्ट) अपने बारहवें वर्ष में संसार के प्रमुख नृशास्त्रीय पत्रों में गिना जाता है। योजनानुसार सभा ने तीन लोकगीत-संग्रह अंग्रेज़ी में प्रकाशित किए: (१) स्नोबॉल्स ऑव गढ़वाल (गढ़वाल के हिमकन्दुक), (२) लोनली फ़रोज़ ऑव दि बॉर्डरलैंड (सीमान्तदेश के एकान्त खेत), तथा (३) फ़ील्ड सांग्स ऑव छत्तीसगढ़ (छत्तीसगढ़ के क्षेत्र-गीत) और भारतीय जनजातियों के जीवन-सम्बन्धी नृशास्त्रीय अध्ययन पर आधारित दो पुस्तकें (१) दि अफेअरस ऑव ए ट्राइब (लेखक डॉ० डी० एन० मजूमदार) और (२) दि कमार (लेखक डॉ० एस० सी० दुबे)।

उत्तर प्रदेश इस संस्था का मुख्य कार्यक्षेत्र है और इस प्रदेश की भाषा हिन्दी है। भारतीय संविधान में भी हिन्दी को राज्य-भाषा और राष्ट्र-भाषा की मान्यता दी गई है। इसको दृष्टि में रखते हुए इस सोसाइटी ने १९४९ में एक मुख-पत्र हिन्दी में निकालना प्रारम्भ किया। दुःख है कि पत्र उस समय दो वर्ष से अधिक न चल पाया, और १९५० के बाद इसका प्रकाशन स्थागित कर देना पड़ा। धनाभाव इसका मुख्य कारण था, परन्तु एक अन्य महत्वपूर्ण कारण था वैज्ञानिकों की हिन्दी के प्रति अरुचि और हिन्दी साहित्यिकों की वैज्ञानिक विषयों में अरुचि।

इस बीच समय-चक्र शीघ्रता से चला है। पिछले पाँच-सात वर्षों में देश में आश्चर्य-जनक प्रगति हुई है, और साथ ही सामाजिक एकैडमिक वातावरण भी बदला है। तब की अनेक अवाञ्छित बातें आज फ़ैशन बन चुकी हैं। आज न तो भारतीय वैज्ञानिकों को ही हिन्दी से द्वेष या अरुचि है, और न ही हिन्दी के विद्वानों को वैज्ञानिक विषयों और गवेषणाओं के प्रति उतनी उदासीनता। सांस्कृतिक-सामाजिक नृशास्त्र और लोकसंस्कृतियों के शास्त्रीय अध्ययन पर भी वैज्ञानिकों, राजनीतिज्ञों और देश के विधायकों का ध्यान गया है। एक ओर जहाँ विश्वविद्यालयों में इन विषयों के अध्ययन को मान्यता प्राप्त हुई है, वहीं नेताओं और शासकों द्वारा भी इस प्रकार के कार्यों को प्रोत्साहन मिला है। देशव्यापी हिन्दी

समितियों ने जनपदों में लोकवार्ता के संग्रह का भीम कार्य तेजी से प्रारम्भ कर दिया है। लोकसंस्कृतियों और जन संस्कृतियों पर इस बीच कई अच्छे ग्रंथ प्रकाशित हुये हैं।

लोक जागरण के यह लक्षण शुभ हैं और इन्हीं के अनुसार हमने पुनः "प्राच्य मानव-वैज्ञानिक" का प्रकाशन प्रारम्भ किया है। इस कार्य में हमें नृशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों एवं लोकवार्ताशास्त्रियों से सहयोग तथा उत्तर प्रदेश की राज्य सरकार से आर्थिक सहायता के आश्वासन मिले हैं। हमें आशा है कि हमारा यह प्रयास व्यर्थ न जाएगा और यह पत्र अपने अर्धवार्षिक रूप में देश की हिन्दी भाषी जनता तक अपना संदेश पहुँचा सकेगा।

लोकसंस्कृतियां और लोकवार्ता के संग्रह और अध्ययन का एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण हैं। लोकवार्ता का संग्रह और विश्लेषण एक कला है, इसकी अपनी एक शिल्पविधि है। ऐतिहासिक रूप से यह शिल्पविधि नृशास्त्र की प्रविधियों से मिलती-जुलती है। मानव के सर्वांगीण जीवन के अध्ययनकर्ता नृशास्त्रियों का इन विधियों की उन्नति में हाथ रहा है। साथ ही अपने जनजीवन और लोकजीवन के अध्ययनों के आधार पर नृशास्त्री यह कुशलतापूर्वक कह सकता है कि अमुक लोकवार्ता का अमुक समाज के जीवन में क्या स्थान है। यह न केवल ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है प्रत्युत समाज सेवा, पुनरुत्थान और पुनर्वास के दृष्टिकोण से भी लोक-संस्कृति के इस महत्वपूर्ण अंग को वैज्ञानिक रूप से सामने लाना "प्राच्य मानव वैज्ञानिक" का मुख्य प्रयास होगा।

इस अंक के गणमान्य लेखकों के हम विशेष कृतज्ञ हैं जिन्होंने अपने लेख प्रदान कर हमें इस पत्र की पुनर्स्थापना का प्रोत्साहन दिया, विशेषतः बन्धुवर डा० कृष्णदेव उपाध्याय तथा डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के जिन्होंने लेखों के संग्रह में हमारी अत्यधिक सहायता की है।

दीपावली, १९५८ ई०

यक्ष

वासुदेवशरण अग्रवाल

केले के पेड़ में जैसे एक के ऊपर एक चढ़े हुए परतों के भीतर उसका गामा रहता है, वैसा ही कुछ भारतीय संस्कृति का रूप है, जिसमें अनेक धर्मों के खोल एक दूसरे के ऊपर चढ़ते चले गए हैं। वे सब एक दूसरे के साथ अत्यन्त शीतलभाव से इस प्रकार मिल बैठे हैं, जैसी गंगा की धारा में पड़े हुए गंग लोढ़े आपस में टकराकर गोलमटोल बनते हुए एक साथ पड़े रहते हैं, और रातदिन अधिकाधिक अभेद की स्थिति प्राप्त करते हुए अन्त में गंगा की वालुका बन जाते हैं, जिससे इस भूमि की मिट्टी का निर्माण हो रहा है। यह संस्कृति अद्भुत है। इसके सारे परतों को खोलकर उनका अर्थ समझना बड़ा रहस्यमय व्यापार है। कहाँ से क्या आ गया है, किसने कितना दिया है और किसने कितना लिया है, इसका सच्चा लेखा जोखा लगाना कठिन काम है। अग्नि के छटकते हुए स्फुलिंगों की भाँति सांस्कृतिक समन्वय के प्राचीन तथ्य जब चमककर दृष्टिपथ में आ जाते हैं, तो उनसे मनको विलक्षण आनन्द प्राप्त होता है और इस महती संस्कृति के प्रति श्रद्धा बढ़ती है एवं हम उस जीवन क्रम के प्रति आस्थावान् बनते हैं, जिसके श्वासप्रश्वास में समवाय और समन्वय एवं मेल जोल और स्वच्छंदता की प्राणवायु क्रियाशील रही है। भारतीय संस्कृति सभी विभिन्न तत्वों का संग्रह करती है, निराकरण जैसे इसे सुहाता ही नहीं। नदी, वृक्ष, पर्वत, यक्ष, नाग, देव, भूमि आदि अनन्त देवी देवताओं की पूजा मान्यता को स्वीकार करती हुई यह संस्कृति आगे बढ़ी है, और उसी मन्थन के बीच से इसने भुवनों के मध्य में भरे हुए महान् देव या अमृत तत्त्व को ढूँढ़ निकाला है।

भारतीय लोकधर्म के देवताओं में यक्ष की पूजा लोक में किसी समय सबसे अधिक व्याप्त थी। एक ओर इसका उल्लेख ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, गृह्यसूत्र पुराण, जातक, दीघ निकाय, पालि-साहित्य के अन्य ग्रन्थ, जैन आगमसाहित्य, भाष्य, चूर्णि, कथा, संस्कृत साहित्य के काव्य कथा ग्रंथ आदि में आता है, दूसरी ओर लोक में बीर-बरह्म के रूप में इसकी पूजा बंगाल से गुजरात तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक आज भी प्रचलित है। इस समस्त सामग्री का संग्रह करके इस विषय का अध्ययन किया जाय, तो स्वतन्त्र ग्रन्थ ही बन सकता है। डा० आनन्द कुमारस्वामी ने इसी विषय पर यक्ष नामक ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित कराया था।[1] भूत, पिशाच, किन्नर, राक्षस, गन्धर्व, यातुधान, किम्पुरुष, नाग, दानव, आदि प्राचीन देवताओं की सूचियों में यक्षों का उल्लेख आता है, और आदिम लोक-धर्म के देवी देवताओं की पंगत में यक्ष भी कन्धे से कंधा रगड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं।

यक्ष किसी समय सबसे प्रमुख देवता माना जाता था। शनैः शनैः आर्य देवों के संपक में आने से आर्य देवों का प्रभाव बढ़ा और उन्हें यक्षों की तुलना में ऊँचा पद दिया जाने लगा। कोई भी आर्य देव सम्भवतः ऐसा नहीं है, जिसे यक्ष न माना गया हो, अर्थात् यक्ष के साथ जिसकी उपमा देकर उसे गौरव न दिया गया हो।

शनैः शनैः एक ओर आर्य देवताओं के साथ तुलना करने से यक्षों का पद हीनतर होने लगा। दूसरी ओर भूत पिशाचादि गणों के परिवार में संमिलित होने से यक्षों का स्वरूप भी घोर और रौद्र माना जाने लगा। बौद्ध और जैन धर्म के साथ भी यक्षों का समन्वय हुआ। अनेक यक्ष और यक्षी बुद्ध के प्रभाव में आकर बौद्ध धर्म के देवता मान लिये गए। यक्ष और यक्षी की मूर्तियाँ बौद्ध स्तूपों में बनाई जाने लगीं। अशोक के शब्दों में 'अमिसा देवा मिसा कटा' अर्थात् जो देवता बुद्ध धर्म में मिले हुए न थे, उन्हें उस धर्म में मिलाने के लिये रास्ता खोल दिया गया। इसका फल बौद्ध कला में तुरंत ही देखने को मिला। जैन धर्म में प्रत्येक तीर्थंकर के साथ आरक्षक देवताओं के रूप में एक यक्ष और एक यक्षी का सम्बन्ध जोड़ दिया गया। और भी, क्या शास्त्रीय धर्म, क्या लोक धर्म, देवी देवताओं की बिरादरी में रोक टोक के बिना यक्षादिक देवों का प्रवेश हो गया।

यक्ष को पाली में यक्ख और प्राकृत में जक्ख कहा गया है। लोक में इन्हीं से जाख, जखैया ये शब्द प्रचलित हैं। सिंघली भाषा में यक्ष-यक्षी को यका, यकी कहते हैं। दक्षिण भारत में उसे यस्क कहा जाता है। यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में मतभेद है। रामायण के अनुसार प्रजापति ने जलों का निर्माण किया (अपः सलिलसम्भवाः)। उनकी रक्षा के लिये कुछ सत्त्वों का निर्माण किया। उन्होंने ब्रह्मा से पूछा हम क्या करें। ब्रह्मा ने कहा--'रक्षध्वम्'। उत्तर में 'रक्षामः' कहने वाले राक्षस हुए और 'यक्षामः' कहने वाले यक्ष हुए।[२]

'यक्षामः' का अर्थ कुमारस्वामी ने खानेवाले या गटकने वाले किया है। पर भोजन के अर्थ में जक्षधातु तो है, यक्ष नहीं। चुरादिगण में एक यक्ष धातु है, जो बाद की जान पड़ती है। वैदिक यक्ष धातु भोजन के अर्थ में न होकर पूजा करने, सम्मान करने आदि धार्मिक क्रिया के अर्थ में प्रचलित थी। कीथ आदि कुछ विद्वान् यज धातु से यक्ष बनाते हैं, इसका अर्थ होगा 'यजनीय' (यजन के योग्य)।

अर्वाचीन मत अब ऐसा भी होने लगा है कि यक्ष शब्द किसी निषाद भाषा के शब्द की संस्कृत में अनुकृति है।

वैदिक संहिताओं में ही यक्ष अद्भुत स्वरूप, सुन्दर, महान्, वपुधारी देव के रूप में माना जाने लगा था। इसका प्रमाण ऋग्वेद में मिलने लगता है। यक्ष की सबसे बड़ी विशेषता उसका अद्भुत या विलक्षण रूप था--'हे मित्र और वरुण, तुम्हारी वे प्रजाएं सब बुद्धि से अमूर्छित हैं। जिनमें न कोई विचित्र आश्चर्य और न यक्ष देखा जाता है'।[३]--दूसरे मन्त्र में कहा है--हे अद्भुत शक्तिवाले, मित्र और वरुण, हम अपने शरीरों में यक्ष का आविर्भाव न देखें[४]। इसमें मित्र और वरुण को 'अद्भुत ऋतु' कहा गया है। जो विशेषता यक्ष में होती थी, उसी का मित्रवरुण में अध्यारोप करके यह भावना की गई कि जब तुम में भी वही अद्भुत शक्ति है, तो यक्ष से हमें क्या प्रयोजन, वह हमारे समीप क्यों आने लगा। इन दोनों मन्त्रों में यक्ष के अदभुत रूप को स्वीकार करते हुए वैदिक देव

मित्र और वरुण को उससे विशिष्ट माना गया है। पहले मन्त्र की व्यंजना यह है कि जिनकी बुद्धि अविकसित है, या जाग्रत नहीं हुई है (अमूराः) उन्हीं को यक्ष जैसे अद्भुत या आश्चर्यमय देवों में विश्वास होता था।

एक अन्य मन्त्र की ध्वनि यह है कि यदि कोई बहका हुआ पड़ोसी या हमारा संबन्धी यक्ष-सदन में जाता है तो, हे अग्नि, तुम कहीं उसके यहाँ छिपकर मत जाना।[५] पड़ोसी से तात्पर्य अनार्य जाति से है जो यक्षों को मानते थे। अथवा यदि कोई पथभ्रष्ट आर्य भी यक्ष की मान्यता पूजा करने लगे तो आर्यों के देवता अग्नि का उसके साथ भूलकर भी मेलजोल न होना चाहिए। यहां यक्ष के सद् या स्थान का उल्लेख ध्यान देने योग्य है, जहाँ जाने से सावधान किया गया है। एक मन्त्र में वैश्वानर अग्नि को ऐसा बृहत् और शक्तिशाली कहा गया है कि लोग उसे यक्ष का भी अध्यक्ष मानने लगे थे[६]। इन चारों मन्त्रों में यक्ष देवता का उल्लेख करते हुए उससे बचने या अलग रहने या उसके आर्य देवों से निकृष्ट होने का भाव पाया जाता है। किन्तु ऋग्वेद में ही यक्ष के सुन्दर रूप का भी उल्लेख है--जो मरुत् देव अश्वों के समान वेग से गमन करते हैं, वे यक्ष सदृश सुन्दर युवकों के समान सुशोभित हैं[७]।—यक्ष के समान सुन्दर लगने वाले (यक्षदृशः), यह कल्पना बाद के साहित्य में भी बहुत बार पाई जाती है।

गृह्यसूत्र में कहा गया है कि वैदिक चरण में प्रवेश करता हुआ नया ब्रह्मचारी अपने आचार्य और उसकी विद्वत् परिषत् का दर्शन करे और इस प्रकार की भावना करे कि मैं भी परिषत् की दृष्टि में यक्ष के समान प्रिय बनूँ (यक्षमिव चक्षुषः प्रयो भूयासम्)[८]।

किसी भी अपरिचित सुन्दर स्त्री से मिलकर उसका परिचय पूछने के लिये कहा जाता था--क्या तुम कोई यक्षी हो (न देवेषुन यक्षेषु तादृक् रूपवती क्वचित्। मानुषेष्वपि चान्येषु दृष्ट पूर्वा न चश्रुता। (आरण्यकपर्व ५०।१३,६१।११४)। स्वयंवर में नल को देखकर स्त्रियां सोचने लगीं--'इसकी रूप और कान्ति कितनी सुन्दर है ? क्या यह कोई देव है, यक्ष है या गन्धर्व है। (अहो रूपमहो कान्तिरहो धैर्यं महात्मनः। कोऽयं देवोनु यक्षोनु गन्धर्वोनु भविष्यति ?' (आरण्यक पर्व ५२।१६) बुद्ध या महावीर को भी कई बार लोग यक्ष समझ लेते थे।

ऊपर ऋग्वेद में अद्भुत और चित्र इन शब्दों की ध्वनि यक्ष के लिए है। यजुर्वेद में मन को अपूर्व यक्ष कहा गया है। (३४ । २)। अद्भुत, अपूर्व, चित्र इनका अर्थ एक ही है। 'महद्भूत आश्चर्य' यही यक्ष की सर्वसंमत कल्पना थी।(आदिपर्व २१ । १२)। यहाँ यद्यपि इन्द्र का वर्णन है,पर उसके लिए यक्ष के ये विशेषण और राजा शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। महत् विशेषण भी यक्ष के लिए प्रयुक्त होने लगा था। अथर्ववेद में कहा है कि इन भुवनोंके बीच में कोई महत् यक्ष समाया हुआ है, उसे सभी राष्ट्रधर बलि देते हैं (महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति—अथर्व १० । ८ । १५)। अथर्व में महद्ब्रह्म संज्ञा महद् यक्ष के लिए ही प्रयुक्त है (१ । ३२ । १ । ४)। रामायण में हनूमान के महान बल को देखकर राक्षस उन्हें महद्भूत समझते हैं—सर्वथा नं महद्भूतं महाबलपरिग्रहम् (सुन्दर काण्ड ४।६)। दीघनिकाय में आदित्य उपस्थान के साथ महत् नामक देवता के उपस्थान का भी उल्लेख है। आदिच्चुपट्ठानं महदुपट्ठानं अभ्युज्जलनं सिरिमायनं इति एव रूपाय तिरच्छाय

विज्जाय मिच्छाजीवा पटिविरतो समणो गोतमो ति (ब्रह्मजाल सुत्त, भागवत का देवनागरी संस्करण पृ० १३)। बुद्ध ने महुद्दुपट्ठान या यक्षपूजा को तिरच्छान, विज्जा और मिच्छा जीवा कहा है, जो जनसाधारण (पुण्यजन=पृथक् जन)में फैली हुई थी। बुद्धने उन्हें सावधान करते हुए कहा कि समस्त जनसाधारण यह जान लें कि गौतम आदित्यपूजा, यक्षपूजा, सिरि-देवता का आवाहन, जंगल में जलते हुए भारी प्रकाश में विश्वास---इस प्रकार की ऊल-जलूल बातों से ऊपर उठ चुके हैं। अथर्ववेद में भी वैश्रवण कुबेर और उसके पुत्र कावेरक को इतर-जन कहा गया है (अथर्ववेद ८। १०। ५। =९---११)।

यक्षों की एक संज्ञा राजा भी है। इस शब्द का प्रसिद्ध प्रयोग कालिदास ने मेघदूत में किया है जहाँ कुबेर को राजराज अर्थात् राजा संज्ञक यक्षों का राजा कहा गया है (अन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ---मेघदूत १।३)। महाराज का शब्दार्थ है---बड़ा यक्ष, और यह भी कुबेर के लिए प्रयुक्त होता था। कुबेर को दी जानेवाली बलि को महाराज बलि कहते थे। पाणिनि के अनुसार महाराज एक देवता था (४।२।३५) और महाराज देवता की भक्ति करने वाले भक्त 'महाराजिक' कहलाते थे (४।३।९७)। पाली साहित्य में चार दिशाओं के रक्षक चार लोकपाल, चार महाराज (चत्तारो महाराजानो) कहलाते थे। इनमें से धृतराष्ट्र नामक देवता गन्धर्वों का अधिपति पूर्वी दिशा का स्वामी माना जाता था। विरूढ़क कुंभाण्डों का अधिपति दक्षिण दिशा का, विरूपाक्ष नागों का अधिपति पश्चिम दिशा का, और वैश्रवण यक्षों का अधिपति उत्तर दिशा का स्वामी समझा जाता था। वस्तुतः ये चारों महाराज यक्ष रूप में ही पूजे जाते थे। भरहुत की वेदिका पर इन्हें यक्ष ही कहा गया है।

यक्ष का सबसे महत्वपूर्ण पर्याय ब्रह्म था। महाभारत में यक्षमह के लिए ही ब्रह्ममह शब्द आया है। बक नामक राक्षस की मृत्यु के बाद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सबने मिल कर एकचक्रा नगरी में ब्रह्ममह का आयोजन किया (ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः। वैश्याः शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा। आदि पर्व १५२। १८)। मत्स्य देश म ब्रह्म का एक बड़ा भारी महोत्सव हुआ करता था, जिसमें उस जनपद के सब लोग तमाशा देखने एकत्र होते थे और उस अवसर पर बड़े-बड़े मल्लों की कुश्तियाँ होती थीं। राजा विराट स्वयं इस उत्सव का प्रबन्ध कराते थे[९]। यह ब्रह्म महोत्सव 'यक्षमह' या यक्ष का ही उत्सव था। लोक में आज तक यक्ष के लिए बरह्म शब्द प्रचलित है और यक्ष पूजा को वीर-बरह्म पूजा कहा जाता है। काशी जनपद में हरिकेश यक्ष का बड़ा स्थान आज तक हरसू ब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध है।

अथर्ववेद में अमृत से घिरी हुई ब्रह्मपुरी और उसमें रहने वाले वपुष्मान् महाकाय यक्ष (आत्मन्वत् यक्ष) का उल्लेख है। उस सूक्त में यद्यपि मनुष्य शरीर का आध्यात्मिक वर्णन है, किन्तु उस वर्णन के प्रतीक प्राचीन यक्षपूजा से ही लिए गए हैं। यक्षों के निवास-स्थान को ब्रह्मपुर कहा गया है। ब्रह्म यक्ष का ही प्राचीन पर्याय था। इस पुरी की विशेषता यह थी कि इसमें अमृत का निवास माना जाता था। यक्षों का संबंध अमृत से माना गया हैं, अतएव इस ब्रह्मपुरी को अपराजिता भी कहा गया। इस पुरी में हिरण्य का कोश था। कुबेर के स्थान में सुवर्ण का अक्षय कोश माना ही जाता था। इस ब्रह्मपुरी में बड़े शरीर वाला यक्ष निवास करता था। ये सब प्रतीक यक्षपूजा के थे।[१०]

अवध्य ब्रह्मपुर

अमृत से घिरी हुई अपराजिता ब्रह्मपुरी के प्रतीकों का विचार करते हुए हमारा ध्यान महाभारत के एक श्लोक की ओर जाता है, जिसमें इन्हीं परिभाषिक शब्दों का प्रयोग करके यक्षपूजा का चित्र खड़ा किया गया है । उसके धुंधले अर्थों के विषय में टीकाकार प्रायः मौन हैं :—

आत्मनासप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम् ।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी ।। (शान्ति पर्व मोक्षधर्म १७१ । ५२)

निर्वेद या तृष्णा क्षय से जो सुख प्राप्त होता है वही अमरत्व है । नियतिवादियों के इस दार्शनिक दृष्टिकोण का विवेचन करते हुए इस श्लोक में कहा है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहंकार इन छह शत्रुओं को और शरीर (आतमा का अर्थ यहाँ भूतात्मा है) इन सातों को वश में करके व्यक्ति ऐसे सुखी होता है, जैसे यक्ष अपने अवध्य ब्रह्मपुर में निवास करता हुआ सुखी होता है ।

यहाँ राजा शब्द का अर्थ स्पष्ट ही यक्ष है । अथर्ववेद में जिसे आत्मन्वत् यक्ष कहा है, वही यहाँ अभिप्रेत है । आत्मा का अर्थ दोनों जगह भूतात्मा या शरीर है । महाकाय या बड़ा शरीर यक्ष की विशेषता थी । महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में यक्ष को महाकाय, ताड़वृक्ष के समान ऊँचा (ताल समुंच्छ्रित), पर्वतोपम, महाबली, अधृष्य (जिसे मृत्यु न दबा सके), तथा अग्नि और सूर्य के समान चमकता हुआ कहा गया है (ज्वलनार्क प्रतीकाश) [११] । इन विशेषणों को हम शुंग और कुषाणकाल की बड़ी-बड़ी कद्दावर यक्ष प्रतिमाओं में चरितार्थ हुआ देखते हैं । अवध्य, अपराजित, अधृष्य—ये सब यक्ष के उस गुण की ओर संकेत करते हैं, जिसके अनुसार लोक में ऐसा समझा जाता था कि यक्ष के पास अमृत है, जिसकी महिमा से वह स्वयं अमर है और अपने भक्तों को उसे प्रदान करता है । इसीलिये अथर्ववेद में यक्षपुर या ब्रह्मपुर को अमृत से आवृत कहा है । यक्षों की मान्यता और उनके विषय में जनविश्वास के रहस्य का बहुत कारण यही था कि लोगों ने यक्षों का संबन्ध अमृत से मान लिया था । रामायण में यक्षत्व और अमरत्व को पर्यायवाची माना है । महाभारत के अनुसार पितामह ब्रह्मा ने वैश्रवण कुबेर को अमरत्व, धन का आधिपत्य और लोकपालत्व—ये तीन वरदान दिए [१२] । अमरत्व का कारण वह अमृत था जिसका घट कुबेर के यहाँ सुरक्षित था । महाभारत में इस विशिष्ट अमृत के विषय में कहा है—यह एक प्रकार का पीला मधु है जिसे मक्खियां नहीं बनातीं (मधु पीतममाक्षिकम्) । वह घड़े में बन्द है (कुम्भसम्मितम्) । सर्प उसकी रक्षा करते हैं । कुबेर को वह अत्यन्त प्रिय है । जंभ साधनेवाले पुजारी कहते हैं कि उस मधु को खाकर मर्त्य पुरुष अमर हो जाता है, बूढ़ा जवान हो जाता है और अन्धे को नेत्र मिल जाते हैं [१३] । जंभ या तो यक्ष की ही संज्ञा थी या वह उसके सदृश कोई क्षुद्र देवता ज्ञात होता है [१४] । जंभ की साधना करनेवाले विशेष पुजारी लोगों को इस विशिष्ट अमृत की प्राप्ति का प्रलोभन देते थे । कुबेर को बौद्ध साहित्य में जंभल देवता संभवतः इसी परंपरा से कहा गया था । जंभकों की यह विद्या उनका अपना रहस्य ज्ञान था । इस प्रकार अमृत पाने की चाह यक्षपूजा के मूल में प्रबल आकर्षण था । उसने

लोक जनता के मन को दूर तक प्रभावित किया। यक्षों की मूर्तियों में उनके बाएँ हाथ में जो अमृत घट दिखाया जाता है, उसका हेतु भी यही है। अमृत घट की प्राप्ति प्राचीन सौपर्णोपाख्यान का केन्द्र बिन्दु था। इससे ही प्राचीन गाथाशास्त्रों में 'होली ग्रेल' के विविध आख्यानों का जन्म हुआ।

अमृत के कारण यक्षों का स्थान अवध्य या अपराजित कहलाया, अर्थात् वहां मृत्यु के आक्रमण का भय नहीं था। आगे चलकर जब यक्षों की धर्म रूढ़ियाँ अन्य देवताओं के लिये गृहीत हुईं, तो यक्षपूजा के ढंग पर विष्णु की लोक-पूजा का विकास हुआ। जैसे यक्षों का पुर या बाड़ा होता था, वैसे ही विष्णु और शिव के लिये भी वेदिका-परिवेष्टित स्थान बनाए जाने लगे। प्राचीन मध्यमिका की नारायणवाटिका के लेख में संकर्षण और वासुदेव को 'अनिहताभ्यां सर्वेश्वराभ्याम्' कहा गया है। 'सर्वेश्वर' इसलिये कहा क्योंकि वासुदेव कृष्ण को यक्ष नागादि अन्य सब देवों में शिरोमणि माना गया। 'अनिहत' शब्द का सामंजस्य अवध्य और अपराजित आदि शब्दों से समझा जा सकता है। जो भाव अवध्य का है वही अनिहत का है। विष्णु के लिये यक्ष शब्दावली का ऐसा सटीक प्रयोग किया जा रहा था कि उस छोटे से लेख में उनके लिये अनिहत शब्द का प्रयोग आवश्यक समझा गया। कौटिल्य अर्थशास्त्र में देवताओं का परिगणन करते हुए विष्णु को जो अप्रतिहत कहा है, उसका भी कारण यही है। यक्षों की ब्रह्मपुरी में सुवर्णकोश का भी उल्लेख आया है। उत्तरदिशा के स्वामी कुबेर धनपति प्रसिद्ध हैं। उसी ओर स्वर्ण का पर्वत मेरु है, और हाटक देश भी उसी ओर है। जाम्बूनद स्वर्ण, पैपीलिक स्वर्ण और अष्टपद स्वर्ण–ये तीनों स्वर्ण उत्तर दिशा में ही प्राप्त होते थे। आगे चलकर कुबेर शंख, पद्म आदि निधियों का निधिपति समझा जाने लगा। कुषाण काल की मूर्तियों में लक्ष्मी कुबेर की पत्नी के रूप में अंकित की गई है। रामायण में धन के संचय के लिये 'कुबेर भवनोपमम्' कहा जाता है। यह धन स्वर्ण ही था। वस्तुतः जिसे मधु या अमृत कहा गया और जो कुबेर का अत्यन्त प्रिय पेय घड़े में भरा हुआ कोश था, वही सोम था। वेद में सोम अध्वरों का राजा है। 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा'। अमृत या सोम और मधु का जो गुण था, अर्थात् मर्त्य को अमर बनाना, उसी गुण की कल्पना यक्ष के संबन्ध में की गई।

---

१ यक्ष भाग १, स्मिथसोनियन इन्सटिटयूशन १९२९। यक्ष भाग २, १९३१। दोनों भागों में मिलाकर ८७ फलक हैं, जिनमें भारतीय कला के आधार पर यक्ष देवताओं से संबन्धित एवं अन्य सलिलसम्भव देवताओं और अलंकरणों से सम्बन्धित चित्र दिए गए हैं।

२ प्रजापतिः पुरासृष्टा अपः सलिलसंभवाः।
तासां गोपायने सत्वानसृजत् पद्मसंभवः ॥९॥
ते सत्वा सत्वकर्तारं विनीतवदुपस्थिताः।
किं कुर्म इति भाषन्तः क्षुतपिपासाभयार्जिताः ॥१०॥
प्रजापतिस्तु तान् सर्वान् प्रत्याह प्रहसन्निव।
आभाष्य वाचा यत्नेन रक्षध्वमिति मानदः ॥११॥

रक्षाम इति तत्रान्यैर्यक्षाम इति चापरैः।
भुंक्षिताभुंक्षितैरुक्तस्ततस्तानाह भूतकृत् ॥१२॥
रक्षाम इति यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वः।
यक्षाम इति यैरुक्तं यक्षा एवं भवन्तु वः ॥१३॥

(रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ४)

३ अमूरा विश्वा वृषणाविमा वां न यासु चित्रं ददृशे न यक्षम्।
द्रुहः सचन्ते अनृत्ता जनानां न वां निण्यान्याचिते अभूवन् (ऋक् ७।६१।५)।

४ मा कस्याद्भुतक्रत् यक्षं भुजमातनुभिः मा शेषसा मानसा ॥ (ऋक् ५।७०।४)।

५ मा कस्य यक्षं सदमिद् दुरोणं मा वेश्म प्रमिनतो मापेः। (ऋक् ४।३।१३।)

६ यक्षस्याध्यक्षं तविषं बृहन्तम् (ऋक् १०।८८।१३)।

७ अत्यासो नये मरुतः स्वञ्चो यक्षदृशो न शुभयन्त मर्याः (ऋक् ७।५६।१६)।

८ गोभिल गृह्यसूत्र (३।४।२८)--यक्षमिव चक्षुषा प्रियो वा भूयासम् इति (मन्त्र ब्रा० १। ७।१४) सपरिषत्-कमाचार्यमभ्येत्य ब्रह्मचारी पठति। द्राह्यादण गृह्यसूत्र-(३।१।२५) में भी ऐसा ही उल्लेख है--उपेत्याचार्य परिषदं प्रेक्षेद् यक्षमिव प्रियो भूयासम्।

९ अथ मासे चतुर्थे तु ब्रह्मणः सुमहोत्सवाः।
आसीत् समृद्धौ मत्स्येषु पुरुषाणां सुसम्मतः ॥ (विराट् १२। १२)
इसी श्लोक के आगे प्रक्षिप्त अंश में इस महोत्सव को ब्रह्म का समाज भीं कहा गया है (समाजे ब्रह्मणे राजंस्तथा पशुपतेरपि)।

१० यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतनोवृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्मणाश्च चक्षुः प्राणं प्रजा ददुः ॥ २९
नवै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३०
अष्ट चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१
तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदोविदुः ॥ ३२
प्रभाजमानां हरिणीं यशसा संपरिवृताम्।
पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३

(अथर्व १०। २। २९-३३)

११ विरूपाक्षं महाकायं यक्षं ताल समुच्छ्रयम्।
ज्वलनार्क प्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम् ॥
सेतुमाश्रित्य तिष्ठन्तं ददर्श भरतर्षभ।
मेघगंभीरया वाचा तर्जयन्तं महाबलम् ॥ (अरण्यक पर्व २९७। २०-२१)

१२ पितामहस्तु प्रीतात्मा ददौ वैश्रवणस्य ह ।
अमरत्वं धनेशत्वं लोकपालत्वमेव च ॥ (आरण्यक पर्व २५८ । १५)

१३ तत्र पश्यामहे सर्वे मधु पीतममाक्षिकम् ।
मेरु प्रपाते विषमे निर्विष्टं कुम्भसंमितम् ॥
आशीविषैः रक्ष्यमाणं कुबेरदयितं भृशम् ।
यत् प्राश्य पुरुषो मर्त्यो अमरत्वं निगच्छति ॥
अचक्षुर्लभते चक्षुर्वृद्धो भवति वै युवा ।
इति ते कथयन्ति स्म ब्राह्मणा जम्भ साधकाः ॥'

(उद्योग ६२ । २३-२५)

१४ जंभ को एक असुर माना गया है । इन्द्र न जम्भासुर का वध किया । वैदिक सृष्टि विद्या के अनुसार महत् या यक्ष की संज्ञा ही जंभ थी जो आप्य पारमेष्ठ्य तत्व से सम्बन्धित था । इन्द्र संज्ञक तैजस तत्व उसका नाश करता है ।

अथर्ववेद में कौटुम्बिक अभिचार

बलदेव उपाध्याय

वैदिक साहित्य में अथर्ववेद का स्थान बड़ा ही अनुपम है। जहाँ अन्य वेद देवताओं की स्तुति को ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं, वहाँ अथर्ववेद भौतिक विषयों के भी वर्णन में अपने को कृतकार्य मानता है। आदिम मानव की नाना प्रकार की विचित्र क्रियाओं, आचारविचारों, रहन-सहन की पूरी जानकारी के लिए अथर्ववेद से पुराना ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। जैसे शत्रुओं पर विजय पाने के लिए, क्लेशदायी दीर्घ रोगों के निवारण के लिए, सद्योजात शिशु तथा उसकी माता--जच्चा तथा बच्चा को सन्तप्त करनेवाले भूत-प्रेतों के विनाश के लिए नाना अभिचारों का विचित्र वर्णन अथर्ववेद के सूक्तों में पाया जाता है जिसके कारण यह वेद नृतत्व (Anthropology) के अभ्यासियों के लिए एक बहुमूल्य विश्वकोष का काम करता है। जादू-टोना का प्रचार आथर्वण सभ्यता की एक विशिष्ट घटना है।

जादू-टोना सदा बुरा ही नहीं हुआ करता है। इसके द्वारा प्राचीन मानव अपने कुटुम्ब की रक्षा अपने शत्रुओं से तथा रोगों के आक्रमण से किया करता था। **आत्म-संरक्षण** की भावना ही जादू-टोना जैसी क्रियाओं की पृष्ठभूमि है। प्राणी इस पृथ्वीतल पर अपना अस्तित्व बनाये रखना चाहता है। उसकी कामना यही रहती है कि वह भी दीर्घ काल तक सुख भोगे तथा उसका कुटुम्ब, उसका परिवार तथा उसकी सन्तान भी कल्याणमय जीवन बितावे। इसे ही कहते हैं आत्म संरक्षण (Self-preservation) की सहजा प्रवृत्ति। मानव प्रथमतः तो अपनी रक्षा अपने ही भौतिक उद्योगों के बल पर करता रहता है, परन्तु जब असफलता उसे दूर खदेड़ कर उसके प्रयासों को विफल बना देती है, तब वह आधिदैविक क्रियाओं तथा प्रयासों की ओर अग्रसर होता है और इन्हीं प्रयासों के अन्तर्गत जादू-टोना की भी गणना की जाती है। जादू (संस्कृत नाम=यातु) इस तरह दो प्रकार का होता है—शोभन तथा अशोभन, भला और बुरा। शोभन प्रकार में किसी दूसरे के द्वारा किये गये अनिष्ट से अपने को बचाने की भावना प्रबल होती है। अशोभन प्रकार में शत्रुविशेष के ऊपर मारण-मोहन तथा उच्चाटन की भावनायें विशेष जागरूक रहती हैं। पाश्चात्य जगत् कितना भी सभ्य क्यों न हो गया हो, परन्तु वहाँ भी इन दोनों की सत्ता विद्यमान है। इनमें से प्रथम प्रकार 'श्वेत जादू' (White Magic) के नाम से प्रसिद्ध है, तो दूसरा 'काला जादू' (Black Magic) के नाम से प्रख्यात है। शेक्सपीयर ने अपने अनेक नाटकों में, विशेषतः 'मैक्बेथ' में इस दूसरे प्रकार के जादू का साहित्यिक विवरण प्रस्तुत कर यूरोप की मध्ययुगीय धारणाओं का एक भव्यरूप प्रस्तुत किया है।

अथर्ववेद ऐसे विश्वासों की जानकारी के लिए मानव-इतिहास में सबसे प्राचीन ग्रन्थ-

रत्न है। अथर्व संहिता में भी अन्य संहिताओं के समान मन्त्रों का ही संग्रह है। परन्तु इन मन्त्रों का उपयोग कब तथा किस उद्देश्य से किया जाता था, इसका पता हमें **कौशिक गृह्यसूत्र** की सहायता से ही लगता है। कौशिक गृह्यसूत्र अथर्ववेद का एकमात्र गृह्यसूत्र है जिसमें १४ अध्याय हैं। इसका सम्पादन न्यूहावेन (अमेरिका) से डा० ब्लूकफील्ड ने किया है (१८९० में) तथा इसका पुनर्मुद्रण हिन्दी अनुवाद के साथ किया है मुजफ्फरपुर से उदयनारायण सिंह ने (१९४२ ई० में)। मानव विज्ञान के इतिहास में कौशिक सूत्र नितांत उपादेय, प्रामाणिक तथा रोचक ग्रन्थ है, जिसमें उन अभिचारीय क्रिया-कलापों का विचित्र वर्णन है जो मन्त्रों के साथ प्रयुक्त होते थे।[१]

अथर्ववेद के केवल विवाह सम्बन्धी सूक्तों का एक संक्षिप्त अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। विवाह से सम्बद्ध अनेक सूक्त अथर्ववेद में उपलब्ध होते हैं जिनके अनुशीलन से उस युग के समाज का चित्र हमारे नेत्रों के सामने बलात् प्रस्तुत हो जाता है। इन सूक्तों में कहीं तो पुत्र की उत्पत्ति के लिए प्रार्थना है, तो कहीं सद्योजात शिशु की रक्षा के लिए देवताओं की स्तुति है। अथर्ववेद का १४वाँ काण्ड 'विवाह काण्ड' है जिसके दो अनुवारों में १३९ मन्त्र हैं, जिनका उपयोग विवाह के अवसर पर किया जाता है। इनमें से अनेक मन्त्र ऋग्वेद के वैवाहिक सूक्तों में भी उपलब्ध होते हैं। इस मन्त्र में अग्नि तथा सूर्य से प्रार्थना की गई है कि वे कुटुम्ब के नाना क्लेशों को दूर करें—

यत् ते प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु
निष्ठितं मघ कृद्भिरघं कृतम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः
सविता च प्रमुञ्चताम्॥

(अथर्व १४। २। ६२)

इसी प्रकार जब वधू अपने नवीन घर में, पतिगृह म आती है, तब उसे दीर्घ जीवन पाने के लिए भव्य प्रार्थना इस मन्त्र में की गई है—

प्रबुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना
दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो
दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु॥

(वही, मन्त्र ७५)

अब दूसरे प्रकार के मन्त्रों तथा तत्सम्बद्ध अनुष्ठानों पर दृष्टिपात कीजिए। कोई स्त्री अपने पति का प्रेम पाना चाहती है अथवा कहीं वह अपनी सपत्नी को अपने वश में करना चाहती है, तब वह एक विशिष्ट अनुष्ठान के साथ इस सूक्त के मन्त्रों का उपयोग करती है। (३। २५)

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि॥ १॥
आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्प कुल्मलाम्।
तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि॥ २॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसन्नता ।
प्राचीन पत्रा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ।। ३ ।।

भावार्थ––दूसरों को बेचैन बनाने वाला काम तुम्हें बेचैन बनावे। अपनी सेज पर तुम आनन्द के साथ मत रहो। काम का जो भयानक बाण है उससे मैं तुम्हारे हृदय को बेधती हूँ। कामदेव का बाण मानसिक व्यथा के पत्तों से युक्त है। इच्छा के जिसमें काँटे गड़े हैं, संकल्प (निश्चित इच्छा) ही जिसका डंडा है ऐसे बाण से तुम्हारे ऊपर ठीक लक्ष्य रख कर काम तुम्हारे हृदय को बेधे। काम का बाण प्लीहा को सोखने वाला है, ठीक लक्ष्य पर जमा है, उसके पंख आगे उड़ रहे हैं तथा वह जलाने वाला है (व्योषा), ऐसे बाण से मैं तुम्हारे हृदय को बेधती हूँ। इस सूक्त में कुल छः मंत्र हैं जिनमें से तीन मन्त्रों का अर्थ ऊपर दिया गया है। शेष मन्त्र भी इसी भाव को पुष्ट करने वाले हैं। कौशिक-सूत्र का कथन है कि यदि कोई पुरुष किसी स्त्री के प्रेम को पाकर उसे अपने वश में लाना चाहता है, तो वह उस स्त्री की मिट्टी की मूर्ति बनाता है। सन की बनी डोरीवाला धनुष तथा काँटों की नोक वाला बाण बनाता है। बाण के पंख उल्लू की पाँख का होता है तथा बाण का हाथ काली लकड़ी का बना होता है और वह इसी बाण से उस प्रेमिका की मृत्तिकामूर्ति को छेदकर आर-पार कर देता है। काम के द्वारा कामिनी के हृदय को बेधने का यह प्रतीक है। दोनों क्रियाएँ साथ-साथ होती हैं–– बाण से हृदय का बेधना और ऊपर के मन्त्रों का उच्चारण। यह वशीकरण क्रिया कहलाती है। ऐसी मूर्ति या चित्र बनाकर उसे बेधने का ढंग संसार के अन्य भागों में आज भी प्रचलित है।

इसी प्रकार पति को वश में लानेवाली वधू इस वशीकरण क्रिया का आश्रय लेती है। वह अपने प्रियतम की मूर्ति बनाती है, उसे अपने सामने रखती है और उसके सिर पर गरम बाणों से आघात करती है और साथ ही साथ अथर्व के दो सूक्तों (६।१३० तथा ६।१३८) का पाठ भी करती जाती है। इन सबका ध्रुव वाक्य है––'देवाः प्रहिणुत स्मरम् असौ मामनुशोचतु' अर्थात् ए देवगण, काम को इसके प्रति भेजिए जिससे वह मेरे प्रेम से उद्विग्न हो जाय।

एक दो मन्त्रों को लीजिए।

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनुशोचतु । (६।१३०।४)

हे देवता लोग इसे पागल बना डालिए मेरे प्रेम से। ऐ वायु, इसे पागल बना डालो। हे अग्निदेव, आप भी उसे पागल बना डालो। वह मेरे प्रेम से शोक से व्याप्त हो जाय।

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम् ।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ।। (६।१३१।३)

स्त्री पति को लक्ष्य कर कह रही है––अगर तुम तीन योजनों तक यहाँ से दौड़ गये हो, पाँच योजनों तक अथवा घोड़े के दिन भर चलने के रास्ते को पार कर गये हो, तो वहाँ से तुम मेरे पास अवश्य चले आवो और हमारे पुत्रों के तुम पिता बनो।

अन्तिम मन्त्र का तात्पर्य यह है कि पति स्त्री के पास से भाग कर बहुत दूर चला गया है, परन्तु इस आभिचारिक अनुष्ठान के बल पर वह फिर लौट कर घर चला आता है। अपनी गृहस्थी जमाता है तथा अनेक पुत्रों का पिता बन जाता है। इन मन्त्रों की भावना

सौम्यभाव से परिपूर्ण है, परन्तु जिन मन्त्रों में कोई स्त्री अपनी वैरिणी को परास्त करना चाहती है उनमें तो घृणा की तथा प्रत्यपकार की बड़ी ही तीव्र-भावना दीख पड़ती है। इस घृणा भाव के लिए इन मन्त्रों पर ध्यान दीजिये--

भर्गमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम्।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम्॥ १ (१।१४)

मैंने इस स्त्री (अपनी वैरिणी) के कल्याण, सौभाग्य तथा तेज को अपने वास्ते ले लिया है जिस प्रकार पेड़ से माला को। दृढ़ मूल वाले पर्वत के समान वह पिता माता के यहाँ ही सदा बैठी रहे। दोनों उपमाओं का तात्पर्य सुन्दर है। माला तो सौभाग्य तथा तेज का प्रतीक है। पर्वत की उपमा देकर वह स्त्री कहती है कि जिस प्रकार दृढ़मूल पहाड़ उखाड़े नहीं उखड़ता, उसी प्रकार वह स्त्री भी हटाये न हटे। अपने मायके में ही पहाड़ की तरह जमी रहे। हमारे प्रियतम का मुख देखने का सौभाग्य उसे नहीं मिले।

एष ते राजन् कन्या वधूर्निधूमतां यम।
सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः॥२॥
एषा ते कुलपा राजन्! तामु ते परि दद्मसि।
ज्योक् पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात्॥३॥

यहाँ वह स्त्री यम को लक्ष्य कर कह रही है कि हे राजा यम, इस कन्या को आप अपनी बहू बनाकर अपने वश में रखिये। यह अपनी माता या भाई के या पिता के घर में बँधी रहे। हे राजन्! यह कन्या तुम्हारे कुल की रक्षा करनेवाली है। इसे हम लोग तुम्हें देते हैं। यह अपने पिता-माता के यहाँ तब तक निवास करती रहे जब तक इसके बाल सर से न झड़ जाँय!!! इस चण्डिका की प्रार्थना सचमुच बड़ी कठोर है। यमराज की पत्नी बना देने से ही उसे सन्तोष नहीं है। वह तो चाहती है कि वह बुड्ढी-ठुड्ढी बन कर मर भले ही जाय, परन्तु पति का मुँह न देखे। इससे बढ़ कर घृणा की भावना क्या हो सकती हैं?

उग्र प्रतिहिंसा की आग जल रही है उन मन्त्रों में, जिनमें कोई स्त्री अपनी वैरिणी को बाँझ बना देने की प्रार्थना करती है (७।३५) अथवा किसी पुरुष के पुंस्त्व को नष्ट कर उसे नपुंसक बना देने की निभ्रान्त प्रार्थना है। दूसरे प्रकार के दो सूक्त हैं जिनमें से ७।९० तो उतना उग्र या तीव्र नहीं है, परन्तु ६।१३८ सूक्त में तो प्रतिहिंसा की कठोर भावना पढ़ कर चित्त विचलित हो उठता है। कोई व्यक्ति किसी विशिष्ट ओषधि से प्रार्थना कर रहा है कि तुम्हारे प्रयोग के द्वारा मैं अपने शत्रुको क्लीब (=शक्तिहीन) बना देना चाहता हूँ। इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह उस व्यक्ति को सदा के लिए क्लीब बना डाले और दो पत्थरों से उसके दोनों अण्डकोशों को सदा के लिए कुचल डाले। इसे पढ़ कर तो प्रतिहिंसा की भावना अपने नग्न रूप में हमारे सामने सजीव होकर खड़ी हो जाती है। भला इन्द्र से ऐसी प्रार्थना!!! परन्तु वे तो शत्रुओं के 'पुरभेत्ता' ठहरे और इसलिए उनसे 'अण्डभेत्ता' बनने की प्रार्थना में वह व्यक्ति कोई अनौचित्य नहीं देखता!!! भला हो उस प्रतिहिंसा का जो ऐसे अनुचित कार्यों के लिए प्राणियों को अग्रसर करती है। इस मन्त्र को लीजिए:--

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्यौ॥ (६।१३८।२)

एतद्विषयक अन्य सूक्तों में साहित्यिक सौन्दर्य की कमी नहीं है । सीधे-सादे शब्दों में अपने मनोगत भावों को प्रकट करने की कला को देखकर आलोचक को आश्चर्य हुए विना नहीं रहता । अथर्ववेद के कौटुम्बिक अभिचार का यह सामान्य परिचय पाठकों को मनोरंजक सिद्ध होगा ।

---

१ विशेष जानकारी के लिए देखिये बलदेव उपाध्याय--वैदिक साहित्य और संस्कृति पृ० २९५-९६; शारदा मन्दिर, काशी ।

लोक-साहित्य की कुछ समस्यायें

श्रीकृष्ण दास

इस समय हमारे देश में राष्ट्रीय पुनर्जागरण का वातावरण है, और जाने अथवा अनजाने हम अपने को खोजने और पाने की कोशिश कर रहे हैं। एक नवोदित स्वतंत्र राष्ट्र के लिए यह प्रक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक है। इसी परिवेश में हम लोक-संस्कृति, लोक-कला, लोक-नृत्य, लोक-अभिनय, एवं लोक-साहित्य की बात सोचते हैं। यूरोप में लोक साहित्य की ओर विद्वानों का ध्यान बहुत पहले गया था। परन्तु हमारे देश में पिछली शताब्दी के उत्तरार्ध में पहलेपहल लोकसाहित्य की ओर विदेशी शासकों और ईसाई मिश्नरियों का ध्यान गया। साधारणतया यह विश्वास किया जाता है कि कर्नल टाड ने राजस्थान का इतिहास लिखते समय जब उस वीरभूमि का पर्यटन किया, तब उसी समय उन्होंने राजस्थान की कुछ लोक-वार्ताओं का भी संग्रह किया था। उसके बाद श्री आर० सी० टेम्पल ने पंजाबी लोक-वार्ताओं का संग्रह किया और 'लीजेन्ड्स आफ दी पंजाब' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई। उस पुस्तक की भूमिका में श्री टेम्पल ने लिखा "टाड की पुस्तक के बाद पचास वर्ष की अवधि में, स्लावों के गीतों और लोक-वार्ताओं का बहुत सा अनुलेखन बाद के लेखकों ने कर डाला है। रूसी, पोली, श्वेत क्रोशीय, सर्बी, मोरावी, वेंडी तथा रुथेनी पर पूरा पूरा काम हुआ है। भारत में, किम्बहुना जहां के शासक अपनी उच्च बुद्धि पर, अपने भेजे हुए प्रतिनिधियों की ऊँची शिक्षा पर तथा शासन के ऊँचे लक्ष्यों पर गर्व करते हैं, यह कार्य अभी आरम्भ ही हुआ है"। टेम्पल महोदय का यह कथन अनुचित नहीं था। सन् १८८४ ई० तक विदेशों में लोक-साहित्य से सम्बन्धित जितना काम हो चुका था उसका एक अंश भी तब तक हमारे देश में नहीं हुआ था। सन् १८६६ ई० में श्री टेम्पल के उद्योग से रेविरेन्ड एस० हिस्लप के लेखों का संग्रह प्रकाशित हुआ। हिस्लप महोदय को मध्य प्रदेश तथा मध्य भारत के आदिवासियों के जीवन की गहरी जानकारी प्राप्त थी। १८६८ ई० में मिस फ्रेयर ने "ओल्ड डेकेन डेज़" के नाम से लोक कथाओं का एक संग्रह प्रकाशित किया। १८७१ ई० में श्री डाल्टन ने "डेस्क्रिप्टव एथनॉलॉजी ऑव बंगाल" प्रकाशित किया। उसी समय "इंडियन ऐंटीक्वेरी" में बंगाल की लोककथाओं का प्रकाशन डैमंड महोदय ने, आरम्भ किया। सन १८८३ ई० में रेवरेंड लाल बिहारी दे की पुस्तक "फोक टेल्स आव बंगाल" प्रकाशित हुई। सन् १८८४ ई० में टेम्पल महोदय की 'लीजेंड्स आव दी पंजाब' तीन भागों में प्रकाशित हुई। १८८५ ई० में श्रीमती एफ० ए० स्टील के सहयोग से टेम्पल महोदय ने "अवेक स्टोरीज़" नाम से कहानियों का संग्रह प्रकाशित किया। "फोकलोर इन सदर्न इंडिया" के नाम से श्री नटेश शास्त्री की कहानियों का संग्रह प्रकाशित हुआ। सन् १८९० ई० में श्री डब्ल्यू

कुक ने "नार्थ इंडियन नोटस एंड क्वेरीज" नाम का पत्र प्रकाशित किया था। थोड़े दिनों वाद कैम्बेल तथा नोलीज़ महोदय ने संयुक्त रूप से संथालों और काश्मीर की कहानियों का संग्रह करना शुरू किया। श्री आर० सी० मुखर्जी की "इंडियन फोक्लोर," श्रीमती डूकोर्ट की "शिमला विलेज टेल्स," रेवरेन्ड सी० स्वीनर्टन की "रोमांटिक टेल्स फ्राम दि पंजाब" आदि से लोकवार्ता संबंधी पर्याप्त महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त हुई। सन् १९०९ ई० में श्री जी० एच० बोम्पस ने रेवरेन्ड ओ० बौडिंग द्वारा संकलित संथाली कहानियों का अनुवाद प्रकाशित कराया। श्री एम० कुलक की "बंगाली हाउसहोल्ड टेल्स" तथा पुत्री शोभना देवी की "ओरियंट पर्ल्स" पुस्तकें प्रकाशित हुईं। श्री पार्थर का "विलेज फोक्टेल्स आव सीलोन" तीन भागों में प्रकाशित हुआ। "कथा सरित्सागर" का अनुवाद टानी महोदय ने और इसका सम्पादन पेंजर महोदय ने किया। "कथा सरित्सागर" के सम्बन्ध में इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि इसका स्थान लोक-वार्ता में अत्यन्त महत्वपूर्ण और उच्च है। इनके अतिरिक्त सर्वश्री विनय कुमार सरकार, शरत चन्द्र राय, ग्रियर्सन, रामास्वामी राजू, जी० आर० सुब्रह्मण्यम् पंतुलु आदि बीसियों शोधकों और विद्वानों ने इस क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। मारिस ब्रूमफिल्ड, नार्मन, ब्राउन, रुथार्टेन, एम० वी० ऐमेन्यू जैसे अमेरिकी और शोकोलव जैसे रूसी विद्वानों ने लोकसहित्य के अध्ययन में मार्ग प्रदर्शन किया है।

ये उपर्युक्त ग्रन्थ और प्रकाशन अंग्रेज़ी में हैं और विदेशी विद्वानों तथा लोक-साहित्य के प्रेमियों के अनवरत परिश्रम के फल हैं। हमारे देश की विभिन्न बोलियों और भाषा-क्षेत्रों में भ्रमण करके लोक-जीवन से घनिष्ट परिचय प्राप्त करने के वाद इन विद्वानों ने अपने ग्रन्थों की रचना की। इसके वाद बंगला, गुजराती, पंजावी, महाराष्ट्री, राजस्थानी आदि क्षेत्रों में भी कार्य आरम्भ हुआ। श्री मन्सूरउद्दीन, श्री दिनेशचन्द्र सेन, श्री झवेरचन्द्र मेघाणीं, श्री नर्वदा शंकर लाल शंकर नागर, श्री संतराम, श्री मदनलाल वैश्य, श्री निहाल चन्द्र वर्मा, श्री खेताराम माली, श्री तारा चन्द्र ओझा आदि दर्जनों लोक-साहित्य के प्रेमियों ने अपन अपने क्षेत्रों में घूमकर लोक-साहित्य और लोक-गीतों का संग्रह किया। हिन्दी में श्री मन्नन द्विवेदी ने सवसे पहले 'सरवरिया' नाम की पुस्तक प्रकाशित की। लाला संतराम बी० ए० ने 'सरस्वती' में अनेक पंजावी लोक-गीत प्रकाशित कराए। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने लोक-साहित्य के संग्रह के लिए अभूतपूर्व परिश्रम किया और 'ग्रामगीत' प्रकाशित किया इसके वाद श्री सूर्यकरण पारीक, डा० कन्हैया लाल सहल, श्रीदेवेन्द्र सत्यार्थी, श्रीराम इकबाल सिंह 'राकेश', श्री नरोत्तम दास स्वामी, ठाकुर राम सिंह, श्री कृष्णानन्द गुप्त, डा० श्याम-चरण दूबे, श्री हरिप्रसाद शर्मा, डा० कृष्णदेव उपाध्याय, श्री श्याम परमार, श्री दुर्गा प्रसाद सिंह, श्रीमती रामकिशोरी श्रीवास्तव, श्री शिव सहाय चतुर्वेदी, श्री चन्द्रभान शर्मा, श्री राम स्वरूप योगी, श्री सत्यव्रत अवस्थी, श्री देवदत्त शास्त्री, श्री अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव आदि साहित्यकारों, अनुसंधानकर्ताओं तथा विद्वानों ने अनेक बाधाओं और कठिनाइयों के बावजूद लोक-साहित्य, विशेषतया लोक-गीतों के संग्रह का काम जारी रखा। काशी नागरी प्रचारिणी सभा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, हिन्दुस्तानी एकेडमी, जैसी संस्थाओं तथा 'भोजपुरी', 'राजस्थान-भारती' 'लोकवार्ता' आदि पत्रिकाओं ने इस पवित्र कार्य में योगदान किया। ब्रजक्षेत्र में श्री प्रभुदयाल मीतल, श्री कृष्णदत्त बाजपेयी, आदि विद्वानों के नेतृत्व में कार्य हुआ और ब्रज-

साहित्य-मंडल ने इस कार्य को अपना बना करके बहुत आगे बढ़ाया । महापंडित राहुल सांकृत्यायन, डाक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा० वैरियर एलविन, डाक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल, डाक्टर उदयनारायण तिवारी, डाक्टर सत्येन्द्र, डाक्टर महादेव साहा आदि विद्वानों ने अपने अध्ययन और मार्ग-प्रदर्शन से न जाने कितने छात्रों और स्नातकों को उत्साहित करके उन्हें इस महत्वपूर्ण कार्य में लगाया है ।

१९४७ ई० में हमारा देश स्वतंत्र हुआ । इन दस वर्षों में जो जागृति हमारे देश में आई है उसके फलस्वरूप लोक-साहित्य, लोक-कला और लोक संस्कृति की ओर लोगों का ध्यान वरबस गया है और अब यह प्रायः एक सवल आन्दोलन का रूप ले चुका है । आज समाज के उच्चतम वर्ग से लेकर नीचे तक हम लोक साहित्य अथवा लोक कला के किसी न किसी पक्ष का प्रवेश और प्रभाव स्पष्ट देख सकते हैं । आज कोई भी उत्सव बिना लोक कला का सहयोग लिए सफल नहीं हो सकता । पुनर्जागरण की इस वेला में जबकि विदेशी संस्कृति का प्रभाव तेज़ी के साथ घट रहा है और लोग अपनी संस्कृति, विशेषतया लोक संस्कृति की ओर अभिमुख हो रहे हैं अनेक महत्वपूर्ण प्रश्न हमारा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं ।

लोक-साहित्य-संग्रह

यह सही है कि अब तक सहस्रों लोकगीतों, लोकोक्तियों और लोकगाथाओं का संग्रह हो चुका है, परन्तु यह भी सही है कि अभी तक संग्रह का यह काम अपूर्ण ही नहीं है बल्कि अभी तो उस मानसरोवर से केवल एक बूंद जल ही हम बटोर पाये हैं । संग्रह का काम अभी बहुत बाकी है । लोकगीतों, लोक-गाथाओं, लोक-कथाओं, और लोकोक्तियों का संग्रह जब तक बहुत बड़े पैमाने पर, अत्यन्त सजगता के साथ, नहीं किया जाता तब तक इस दिशा में सफलता प्राप्त नहीं होगी । यह काम इतना बड़ा है कि इसमें सरकार तथा इस विषय में रुचि रखनेवाली संस्थाओं तथा व्यक्तियों को एक साथ मिलकर संग्रह के कार्य को तुरन्त आगे बढ़ाना होगा । संग्रह कैसे हो, उसके सिद्धान्त क्या हैं, पुराने संग्रह का काम करने वालों के अनुभवों से लाभ कैसे उठाया जाय, यह सारी समस्यायें ऐसी हैं जिनपर गम्भीरतापूर्वक विचार करना होगा । जहाँ तक लोकगीतों का सम्बन्ध है, गीतों के संग्रह के साथ-साथ उनकी धुनों की रक्षा करने का प्रश्न भी सामने है । अनुभव से हम जानते हैं कि अनेक ऐसी धुनें हैं और अगणित ऐसे गीत हैं जो कि वृद्धाओं के कंठ में भी सुरक्षित हैं । ये वृद्धायें या अन्य पुराने लोग एक-एक करके हमारे बीच से उठते जा रहे हैं, और वे अपने साथ ही उन धुनों को और गीतों को भी लिये जा रहे हैं । यदि उन धुनों की टेप रेकार्डिंग व्यापक पैमाने पर हो जाय तो वे सुरक्षित रखे जा सकते हैं । इस काम की कठिनाइयां स्वतः प्रमाणित हैं, परन्तु इस काम की ओर से उदासीन भी नहीं रहा जा सकता ।

लोकगीतों के संग्रह के साथ ही दो एक समस्यायें और आती हैं । अक्सर संग्रहकर्ता या लोक-गीतप्रेमी संग्रहीत लोकगीतों में अपनी बुद्धि और रुचि के अनुसार संशोधन कर देते हैं । बहुत से ऐसे कवि हैं जो लोकगीतों की पंक्तियों में अपनी पंक्तियां जोड़ देते हैं । और उन्हें लोकगीत कहकर प्रचारित करते हैं । यह बड़ी खतरनाक बात है । यह तो लोकगीतों की पवित्रता को कलंकित करने जैसा अपराध है । हमें ऐसे व्यक्तियों और उनकी कुचेष्टाओं से सजग रहना चाहिए ।

तीन प्रकार के लोकगीत मिलते हैं, (१) ऐसे गीत जिनके लेखकों का नाम नहीं मिलता, और जो जन-जन के कंठ में निवास करते हैं । (२) ऐसे गीत जिनके रचयिताओं के नाम गुरु-शिष्य की परम्परा के अनुसार चले आ रहे हैं । (३) ऐसे गीत जो कि किसी अज्ञात कवि के रचे हुए हैं परन्तु किसी में सूरदास का नाम जोड़ दिया गया है, किसी में कवीर अथवा तुलसी का । चौथे प्रकार के वे गीत हैं जो आज विभिन्न बोलियों में लिखे जा रहे हैं और जिनके लेखकों का नाम हम जानते हैं । चौथे प्रकार के ये गीत अकसर लोक-प्रिय भी हैं । परन्तु लोकगीतों की किसी भी परिभाषा के अनुसार इन गीतों को लोकगीत मानने में हमें संकोच होता है । अधिक से अधिक इन गीतों को हम लोक-बोलियों के गीतों की कोटि में मान सकते हैं ।

लोकबोलियों के कवि अक्सर लोक गीतों के शब्दचयन, रचना-विधान, रूपसज्जा आदि को अपने गीतों में ले लेते हैं, परन्तु इनके कारण ही इन रचनाओं में लोकगीतों का स्वभाव, रूप और गुण नहीं आ पाता और न वे जन-जन के कंठ की वाणी बन पाते हैं । किसी भी गीत को जनवाणी बनने के लिए समय के जिस अन्तराल की आवश्यकता होती है उसके न होने के कारण इन गीतों को हम लोक-गीतों की परम्परा में नहीं मान सकते । व्यष्टि अथवा व्यक्ति की वाणी को समष्टि अथवा समाज की वाणी बनने के लिए समय के अन्तराल की अनिवार्य आवश्यकता होती है । इसके अतिरिक्त, व्यक्ति की निजी कल्पनाएँ, भावनाएँ और निजी उल्लास और उत्साह, निजी विचार और अनुभव जब निजी न रहकर समाज के वन जाते हैं, तव इन उपर्युक्त भावों को अभिव्यक्त करनेवाले गीत लोकगीत वन जाते हैं । व्यक्ति का व्यक्तित्व जब तक समाज के व्यक्तित्व में तिरोहित न हो जाय, बूँद जब तक अपने को मिटाकर सागर न बन जाय, लहरें जब तक प्रवहमान सरिता का अविभाज्य अंग न हो जाएं, तब तक उनका निजी व्यक्तित्व बना रहता है । इसी प्रकार गीतकार का निजत्व जब तक समाप्त न हो जाय और उसका व्यक्तित्व इतना बड़ा न हो जाय कि पूरा समाज उसमें समा उठे, तब तक उसके गीतों में निजी छाप बनी रहती है । वे गीत सामाजिक दृष्टि से चाहे जितने भी उपयोगी हों, और समाज उन्हें चाहे जितना भी समादृत करे, वे लोक गीत नहीं बन सकते ।

उदाहरण के लिए हिन्दी साहित्य में सम्भवतः सबसे अधिक ज्ञान-गरिमापूर्ण और लोकजीवन से घनिष्टतम रूप से सम्बद्ध संतों की वाणी है । कबीर की साखियों अथवा अन्य संतों की वाणियों में भारतीय दर्शन और ज्ञानकोष-संचित है, फिर भी उस पूरे साहित्य को हम उनके कर्ता और रचयिता संतों के ही नाम से जानते हैं । इसीलिए हमारा निवेदन है कि संत साहित्य को लोकसाहित्य के लिए वरदान मानते हुए भी उसे लोकसाहित्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता । वह तो संत महात्माओं की व्यक्तिगत अनुभूतियों, विचारों, जीवनदर्शन और तत्वान्वेषण के द्योतक हैं, और उन्हें उसी रूप में हमें स्वीकार करना चाहिए । इसीलिए हम ऐसे गीतों को जो लोक बोलियों में अथवा क्षेत्रीय भाषाओं में रचे जाते हैं सरलतापूर्वक लोकगीतों की कोटि में नहीं मान सकते । लोकगीतों की अपनी आत्मा होती है, उनका अपना स्वभाव होता है, उनकी अपनी विशिष्टता होती है, उनमें समाजी-करण और समष्टिवाद के जन्मजात गण होते हैं, लोकगीतों में वर्णित सुख-दुख, आशा-

निराशा, जय-पराजय, जीवन-मृत्यु, सफलता-असफलता, उत्क्रमण और पतन की गाथायें सारे लोक की गाथायें होती हैं, सारे लोक की अनुभूतियाँ होती हैं। इसलिए वे सहज ही लोकवाणी बन जाते हैं। उनके माध्यम से हम पूरे लोक और समाज के जीवन का दर्शन सहज ही कर सकते हैं, यही उनकी विशेषता है। यही उनकी शोभा और शृंगार है। इसलिए जो लोग कुछ ग्रामीण शब्दों अथवा वाक्यों अथवा लोकोक्तियों को चुनकर गीतों की रचना करते हैं और उन्हें लोकगीतों की कोटि में रख देने का प्रयास करते हैं, उनके इस प्रयास को हम उचित नहीं समझते हैं।

धुनों की समस्या

यहीं लोकगीतों की धुनों की समस्या भी सामने आती है। लोकगीतों की धुनों के बारे में विभिन्न प्रकार की और अक्सर अन्तर्विरोधी बातें कही जाती हैं। एक वर्ग का यह कथन है कि इस समय शास्त्रीय संगीत में जितनी राग-रागनियाँ हैं सभी के मूल में हम लोकगीतों की धुनों को किसी न किसी मात्रा में पा सकते हैं। दूसरा वर्ग है जो इन राग-रागनियों का लोकगीतों की धुनों से कोई भी सम्बन्ध, किसी भी स्तर पर जोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं। जो लोग लोकगीतों की मूल धुनों और उनके विकासक्रम के अध्ययन में रुचि रखते हैं उनके लिए यह समस्या गम्भीर है और वे इस सम्बन्ध में पूरी तौर से वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं। हमारे उत्तर प्रदेश में अनेक राग-रागनियाँ ऐसी हैं जिनकी समता लोकगीतों की विभिन्न धुनों से की जा सकती है। इस विषय की पूरी छानबीन की जानी चाहिये। राग-रागनियों के सम्बन्ध में मेरी जानकारी बिल्कुल नहीं है। लेकिन आचार्य रतनजंकर जैसे संगीत-विद्या में पारंगत व्यक्ति भी यह स्वीकार करते हैं कि लोकगीतों की विभिन्न धुनों और शास्त्रीय संगीत की अनेक राग-रागनियों में मौलिक और घनिष्ट सम्बन्ध है। जहाँ एक ओर इस विषय में वैज्ञानिक खोज परमावश्यक है, वहीं इस बात की भी अनिवार्य आवश्यकता है कि लोकगीतों की जितनी धुन हैं उन्हें शीघ्र ही सुरक्षित कर लिया जाय। यह काम दुस्साध्य है, परन्तु इसकी ओर से उदासीन भी नहीं रहा जा सकता। ये धुनें अपने मौलिक रूप में आकर्षक, मधुर और मार्मिक हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु सिनेमा और रेडियो की ओर से इन मौलिक धुनों को बिगाड़ने अथवा सँवारने का जो व्यापक और ज़ोरदार उद्योग हो रहा है, उससे इस बात का खतरा उत्पन्न हो गया है कि कहीं इन धुनों का मौलिक रूप बिलकुल लुप्त न हो जाय, और लोगों के सामने इन धुनों का विकृत रूप ही न रह जाय।

इस सम्बन्ध में मैं अपने एक अनुभव की चर्चा करना चाहता हूँ। अभी कुछ महीने पहले मैं कुछ गीतों की टेपरेकार्डिंग करवा रहा था। जिस समय रिहर्सल हो रहा था गीतों की धुनों को सुनकर शास्त्रीय संगीत की जानकारी रखनेवाली कुछ लड़कियाँ हंस पड़ीं। उनके अनुसार शायद गीतों की मौलिक धुनों में अनेक विकृतियाँ थीं। इन गीतों की रेकार्डिंग के बाद शास्त्रीय संगीत में पारंगत उन लड़कियों द्वारा गाये गये लोकगीतों की रेकार्डिंग भी हुई निश्चय ही इन लड़कियों के रागों में परिष्कार अधिक था, परन्तु मौलिक धुनों को सँवारने के प्रयास में उन्होंने उन धुनों की मौलिकता को ही नष्ट कर दिया था। फलतः पहले वाले रेकार्ड ही धुनों की मौलिकता की दृष्टि से अच्छे माने गये।

रेडियो और सिनेमा में धुनों के साथ अन्धाधुन्ध प्रयोग किया जाता है। गाते समय अनेक ऐसे वाद्यों से संगत की जाती है जो साधारणतया लोकजीवन में कभी भी देखे सुने नहीं गए। उसका फल यह होता है कि रेडियो या सिनेमा द्वारा प्रस्तुत लोकगीतों की धुनों में रोचकता आ जाती है, और वे लोकप्रिय भी बन जाती हैं। परन्तु इस तरह धुनों की मौलिकता की हत्या हो जाती है।

सवाल यह है कि ऐसी स्थिति में लोकगीतों की धुनों की मौलिकता की रक्षा कैसे की जाय? सिनेमा और रेडियो के बढ़ते प्रभाव को तो रोका नहीं जा सकता, हमारे नागरिक और ग्रामीण जीवन में इनका प्रवेश हो चुका है और ये अधिकाधिक प्रभावपूर्ण भी होते जा रहे हैं। इसलिए इस प्रभाव की ओर से उदासीन रहने से काम नहीं चलेगा। बल्कि अधिक तेजी से और अधिक व्यापक स्तर पर लोकगीतों की मूल धुनों की रक्षा का प्रबन्ध तुरन्त करना होगा।

लोकगीतों की उपयोगिता

बार-बार यह सवाल उठाया जाता है कि आज के बदलते युग में जबकि दूर-दूर के ग्रामों तक विज्ञान पहुँचता जा रहा है, ट्यूबवेल, बिजली, और ट्रैक्टरों का प्रवेश होता जा रहा है, सामाजिक जीवन में और लोगों के आपसी सम्बन्धों में परिवर्तन होता जा रहा है, पुराने सामाजिक जीवन को अभिव्यक्त करने वाले लोकगीतों की उपयोगिता क्या है? वैसे तो इस प्रश्न का उत्तर अनेक प्रकार से दिया जा सकता है, परन्तु यहाँ अत्यन्त संक्षेप में हम यही निवेदन करेंगे कि हमारे लोकगीत क्रमशः सामाजिक जीवन के विकास के विभिन्न स्तरों को सदैव अभिव्यक्त करते रहे हैं! हमारे सामाजिक जीवन में जब भी जैसा विकास हुआ है। ठीक उसके अनुरूप उसकी अभिव्यक्ति हमारे लोकगीतों में हुई है। मुसलमानी काल में शासकवर्ग की ओर से जन-समाज पर जब-जब अत्याचार हुए हैं, जब जब संस्कृति और सभ्यता पर आक्रमण हुआ है तब-तब उनका प्रतिकार करने के लिए, सामना और विरोध करने के लिए हमारे लोकगीतों में प्रेरणा दी गयी है। ऐसे सैकड़ों नहीं हजारों गीत उपलब्ध हैं जो हमारे इस कथन को पुष्ट करते हैं। अंग्रेजी अमलदारी में भी जब नई समस्या आ उठीं, नये अवरोध आये, नये आक्रमण हुए तो हमारे लोकगीतों में उनकी प्रतिक्रिया हुई और जन जीवन के सजग पहरेदारों की तरह उन अगणित गीतों ने हमको उद्‌बुद्ध किया, क्रियाशील बनाया। सदैव, बदलते युग के साथ, हमारे जीवन में नये मानों और मूल्यों को प्रतिष्ठा मिली। हमारे लोकगीतों ने भी उन नवीन मानों और मूल्यों के प्रतिष्ठा की मुखर किया। इस प्रकार हमारे लोकगीतों की परम्परा में सनातन से ही परिवर्तनशीलता की मौलिक विशेषता बनी रही। यहाँ उदाहरण के लिए एक गीत प्रस्तुत कर रहा हूँ:

"कुंअवा खोदाए कवन फल, हे मोरे साहब।
झोंकवन भरें पनिहारिन, तबै फल होइहै॥
बगिया लगाए कवन फल, हे मोरे साहब।
राहे बाट अमवा जे खैहैं, तबै फल होइहै॥
पोखरा खोदाए कवन फल, हे मोरे साहब।
गौआ पियें जूड़ पानी, तबै फल होइहै॥

तिरिया के जनमे कवन फल, हो मोरे साहब ।
पुतवा जनम जब लैहें, तबें फल होइहें ।।
पुतवा के जनमे कवन फल, हे मोरे साहब ।
दुनियाँ अनन्द जब होई, तबै फल होइहें ।।"

इस प्रसिद्ध गीत में हमारे सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में जिस आदर्श की स्थापना की गयी है और जिस उदार दृष्टिकोण को अपनाया गया है क्या गाँव में बिजली पहुँच जाने अथवा ट्यूबवेल लग जाने से उसमें किसी प्रकार की कमी आ जाएगी ? यह सही है कि हमारे लोकगीतों में बहुत सा अंश ऐसा है जिसका केवल ऐतिहासिक मूल्य है। लेकिन क्या हमारे जीवन में इतिहास का कोई मूल्य ही नहीं ? यदि आज के वैज्ञानिक युग में हमें अपने जीवन का परिष्कार करने के लिए और उसे अधिक सम्पन्न तथा उत्क्रमणशील बनाने के लिए अपने प्राचीन इतिहास की और प्राचीन वाङ्मय की पद पद पर आवश्यकता होती है, तो फिर अपने लोकजीवन के विकासक्रम को जानने के लिए ही नहीं, बल्कि उसे अधिक सम्पन्न और पुष्ट बनाने के लिए ही इन लोकगीतों के संग्रह और सुरक्षा की भी आवश्यकता है ।

व्याख्या

एक प्रश्न लोकगीतों की व्याख्या का भी हमारे सामने है । अभी तक लोकगीतों की व्याख्या की ओर हमारे विद्वानों का ध्यान बहुत कम गया है। उसका कारण यह है कि हमारे लोकगीत अपने सरल शब्दों और अकृत्रिम भाव-प्रकाशन-क्षमता के कारण सहज ही हमें प्रभावित कर देते हैं । लोकगीतों में गहरे रहस्य की बातें नहीं कही जातीं। उनमें सीधी सादी बातें सीधे सादे और प्रभावोत्पादक ढंग से कही जाती हैं। वे सीधे हृदय पर चोट करती हैं और हम अभिभूत होकर रह जाते हैं । लोकगीतों को सुनने के बाद देर तक बैठकर अर्थ ढूँढ़ने और बारीकियों का पता लगाने की गुंजायश नहीं रहती । उनमें जो बातें होती हैं वे प्रायः स्वयं-सिद्ध होती हैं। इसलिए उनमें कही गयी बातों को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। इन तमाम कारणों से लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या की ओर ध्यान देने का लोगों को अवकाश नहीं रहता ।

हमारा निवेदन है कि लोकगीतों से तात्कालिक रूप में प्रभावित होना एक बात है, और उनमें छिपे विशेष तत्वों को ढूँढ़ना और उनके मूल्य अथवा महत्व का पता लगाना बिलकुल दूसरी बात । जब तक हम लोकगीतों की व्याख्या और अध्ययन में सामाजिक दृष्टिकोण नहीं अपनाते तब तक हम अपने लोकगीतों को वह महत्व नहीं दे पायेंगे जो उन्हें मिलना चाहिए। यदि हम अपने लोकगीतों का सामाजिक और वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें उनमें अपने लोक जीवन का ऐतिहासिक विकास क्रम तो देखने को मिलेगा ही, उसके साथ ही हम उन मूल तत्वों और प्रेरणाओं को भी खोज पाने में समर्थ हो जाएँगे जिनके सहारे हमारा लोक जीवन अब तक इतना वैभवशाली और महान् रहा है, तब हमको मालूम होगा कि हमारी जाति ने सबल से सबल आक्रमण के सामने भी सिर नहीं झुकाया, अनाचार और अनैतिकता को कभी प्रश्रय नहीं दिया; भय, आतंक, पराभव और पराजय की भावना से अपने को सदा बचाये रखा, जीवन के सत्य सनातन आदर्शों को कभी नहीं छोड़ा, और हमारे समाज को चिरगतिशील बने रहने में सदैव सहायता प्रदान की । आज इस व्याख्या की नितान्त और

तात्कालिक आवश्यकता है। इसलिए कि अब हम फिर से स्वतन्त्र होकर अपनी समस्त पुरानी थातियों की सुरक्षा करना चाहते हैं और उन्हें पाथेय बनाकर भविष्य के प्रशस्त मार्ग पर चलना चाहते हैं।

एक बार सम्भवतः लार्ड मेकाले ने ही कहा था कि भारतवर्ष का समस्त साहित्य लंदन की लाइब्रेरी की एक अलमारी में समा सकता है। परन्तु जब हमारा देश जागने लगा और वह अपने बिखरे साहित्य को बटोरने लगा तो भारतवासियों को ही नहीं लार्ड मेकाले के देशवासियों को भी यह पता चल गया कि हमारे देश का साहित्य कितना विपुल, कितना महान् और कितना महत्वपूर्ण है। ठीक इसी तरह जब सपूर्ण लोक-साहित्य का संकलन और संग्रह हो जायगा और उसकी पूरी व्याख्या हो जायगी तो लोकसाहित्य के विरोधियों और उसके महत्व को कम करनेवाले लोगों को भी यह पता चल जायगा कि जिसे लघु समझकर वे उपेक्षित करना चाहते थे, हीन समझते थे, वह साहित्य विपुल और महत्वपूर्ण है और उसमें हमारे लोक को जीवित रखने की ही नहीं बल्कि उसे प्रगतिशील, सुखी और शक्तिशाली बनाने की भी क्षमता है।

लोकसाहित्य के अध्ययन का काम अब विश्वविद्यालयों में भी योग्य अधिकारी विद्वानों और अध्यापकों की देख रेख में होने लगा है। इसलिए अब अधिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से शास्त्रीय आधार पर, विभिन्न पहलुओं से, लोकगीतों का मूल्यांकन किया जा रहा है। सबसे अधिक रुचि भाषा विज्ञान की दृष्टि से लोकगीतों में ली जाती है। इसके अतिरिक्त इन गीतों के माध्यम से लोकजीवन का भी अध्ययन किया जा रहा है। सामाजिक रीतियों, परम्पराओं, विश्वासों, लोकाचारों, उनके नियमों तथा उपनियमों का भी अध्ययन विस्तार के साथ किया जा रहा है। धीरे-धीरे यह बात सभी लोग मानने लगे हैं कि लोकसाहित्य और लोक संस्कृति का सम्यक् अध्ययन किये बिना हम अपने साहित्य और संस्कृति का सर्वांगीण और सम्पूर्ण अध्ययन तथा मूल्यांकन नहीं कर सकते। इस दिशा में नये उत्साह और लगन के साथ हमारे अनुसंधानकर्ता लगे हुए हैं। उनके प्रयत्नों का फल अवश्य ही शुभ और मंगलमय होगा, क्योंकि इस अध्ययन के फलस्वरूप हमारी दृष्टि अधिक व्यापक होगी और हमारा साहित्य भी सामाजिक जीवन से घनिष्ठतम रूप से सम्बद्ध हो जायगा। वस्तुतः लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य एक दूसरे के विरोधी नहीं, बल्कि पूरक हैं। उपर्युक्त अध्ययन के बाद हमारा यह कथन स्वयं प्रमाणित हो जायगा।

इसके साथ ही हम स्वतंत्र राष्ट्र के नव-निर्माण में भी अपने पुष्कल लोकसाहित्य और लोक-परम्पराओं का उपयोग कर सकते हैं। यदि हमें जनता के हृदय को छूना है, उसकी भावनाओं से अपनी भावनाओं को रँग लेना है, और बीच की दूरी को समाप्त करके, एक होकर, पूरे समाज के नव-निर्माण में लग जाना है तो हमें लोकसाहित्य और उसकी परम्पराओं को भी स्वीकार करना होगा, और उसका सहारा लेकर ऐसी रचना करनी होगी जिससे हम लोग जीवन की जागृति कर सकें और सक्रिय तथा सजग होकर आगे बढ़ सकें। इस दृष्टि से भी लोकसाहित्य के वैज्ञानिक ही नहीं सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन तथा मूल्यांकन की बहुत बड़ी आवश्यकता है।

लोक साहित्य में विविधता में एकता की भावना

कृष्णदेव उपाध्याय

इस महान् देश के विभिन्न राज्यों में जनता के रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान वेश-भूषा तथा रीति-रिवाज में बड़ी विभिन्नता दिखाई पड़ती है। परन्तु इन राज्यों में प्रच-लित लोकसाहित्य का अध्ययन किया जाय तो उनमें एक अलौकिक एकता दृष्टिगोचर होती है। इनमें कुछ ऐसे तत्व पाये जाते हैं जो इन्हें एकता के सूत्र में बाँधे हुए हैं। ये तत्व मौलिक तथा स्वाभाविक हैं, कृत्रिम नहीं।

लोकसाहित्य आधुनिक सभ्यता के दूषित वातावरण से दूर रहनेवाली अशिक्षित जनता के हृदय का उग्दार है। जन साधारण के शुद्ध एवं निष्कपट हृदय में जिन भावों का उदय अनायास हुआ है, उन्हीं की अभिव्यक्ति लोक साहित्य में उपलब्ध होती है। मानव हृदय सर्वत्र समान है। अतः उसके ऊपर हर्ष-विषाद, सुख-दुःख तथा संयोग-वियोग का समान रूप से प्रभाव पड़ता है। अतः लोकसाहित्य में सर्वत्र समान रूप से इनका वर्णन हुआ है।

पुत्री की विदाई के अवसर पर माता-पिता को जो कष्ट होता है उसकी अनुभूति एक ही रूप में उपलब्ध होती है। इसी प्रकार पुत्री द्वारा, सुन्दर पति के खोजने की पिता से प्रार्थना भी, समान रूप में ही दिखाई पड़ती है। गार्हस्थ्य जीवन का जो चित्रण इन लोक-गीतों और लोक कथाओं में हुआ है उनमें भी एक ही भाव-धारा प्रवाहित होती है। दुष्टा सास जिसे 'दारुनिया' (दारुण) विशेषण प्रदान किया गया है अपनी दुष्टता के लिए कुप्रसिद्ध है। कुटिल ननद भी अपनी कुटनाई करने से बाज नहीं आती। वह अपने भाई से भावज के ऊपर मिथ्यारोपण करती है। सौतिया डाह का सजीव चित्रण भी लोक-गीतों में समान रूप से दृष्टि-गोचर होता है।

इनके अतिरिक्त यदि हम लोकगीतों तथा लोक-कथाओं की शिल्प विधि (Technique) पर विचार करते हैं तो उसमें अद्भुत समानता उपलब्ध होती है। लोक गीतों की प्रधान विशेषतायें प्रत्येक राज्य तथा देश में एक ही समान पायी जाती हैं। लोक-कथाओं की शैली तथा इनमें वर्णित सुखान्त की प्रवृत्ति भी समान ही है। इस प्रकार हम देखते हैं कि लोकसाहित्य में विविधतामें एकता स्थापित करने का प्रयास अनायास पाया जाता है।

प्रस्तुत निबन्ध में लोकसाहित्य में प्रवाहित होनेवाली इसी समान भावधारा का वर्णन संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

कन्या द्वारा पति का चुनाव

मानव हृदय सर्वत्र समान है। प्रान्त तथा देश की विभिन्नता होने पर भी इसमें

कदापि अन्तर नहीं आ सकता। लोक-गीतों के द्वारा भी यही बात प्रमाणित होती है। विवाह के संबंध में किसी प्राचीन संस्कृत कवि की उक्ति है कि :

कन्या वरयते रूपं ; माता वित्तं, पिता श्रुतम्।
बान्धवाः कुलमिच्छन्ति, मिष्ठान्नमितरे जनाः॥

इसमें 'कन्या वरयते रूपम्' यह उक्ति आज भी उतनी ही सत्य है जितनी कि प्राचीन काल में। इस देश के विभिन्न प्रान्तों के लोक-गीतों में कन्या के द्वारा वर के चयन या पसन्द किये जाने की बात पाई जाती है। यदि कोई भोजपुरी पुत्री अपने पिता से सुन्दर वर खोजने की प्रार्थना करती है तो उसकी पंजाबी बहिन भी इस विषय में उससे पीछे नहीं है। गुजराती बेन भी अपने पिता से यही निवेदन करती है कि ए पिता जी! मेरे लिए ऐसा ऊँचा एवं लम्बा वर मत खोजना, जिसे देखकर लोग कहें कि यह ऊँट है। राजस्थानी गीतों में भी यही बात पाई जाती है।

कोई भोजपुरी कन्या अपने पिता से कहती है "ए पिता जी! अब मैं विवाह करने योग्य हो गई हूँ। अतः आप मेरे लिए ऐसा सुन्दर वर खोजिए जिसे देख कर गाँव के लोग खिल्ली न उड़ावे।" अनक स्थानों में वर खोजने पर भी समुचित वर के न मिलने में पिता, जब अपनी असमर्थता प्रकट करता है तब पुत्री कहती है कि "सरयू के किनारे क्रीड़ा करते हुए चार भाइयों में जो सबसे सुन्दर है वही मेरा पति होने के योग्य है।" गीत है :

"बर खोजु, बर खोजु, बर खोजु रे बाबा ;
अब भइलों वियहन जोग ए।
आरे हमारा के बाबा सुन्दर वर खोजिह,
हँसे जनि दुअरवा के लोग ए।
पुरुब खोजलों ए बेटी पच्छिम रे खोजलों,
अवरु ओड़हसा जगरनाथ ए।
आरे तीनों भुवन बेटी तुहें वर खोजलों,
कतही ना मिले सिरिराम ए।
आरे सात समुन्दर बाबा सरजू बहत बा,
खेलत बाड़े सरजू तीर ए।
चारु भइया ले सुन्नर ए बाबा,
उहे होइहैं बरवा हमार ए।"

अवध की कोई कन्या भी इन्हीं शब्दों में अपना अभिप्राय प्रकट करती हुई कहती है कि मेरा पिता वर खोजने के लिए जा रहा है। वह छोटे वर से मेरा विवाह नहीं करेगा और बड़ा वर उसकी आँखों को अच्छा नहीं लगेगा। वह पिता से निवेदन करती हुई पुनः कहती है "ए पिता जी! मैं तुम्हारी दुलारी बेटी हूँ। अतः मेरे लिए अत्यन्त सुन्दर वर खोजना। मैं तीनों लोक में परम सुन्दरी हूँ अतः काला वर खोज करके मेरी हँसी मत उड़वाना।" गीत इस प्रकार है :

"बाबा जे चलेन मोर बर हेरन,
पाट पितम्बर डारि।

छोट देखि बाबा करबै न करिहैं,
बड़ा नाहीं नजरि समाय।
आरे आरे बाबा सुन्नर वर हेरेउ,
हम बेटी तोहरी दुलारि।
तीन लोक माँ हम बड़ि सुन्नरि,
हँसी न करायउ मोरि।।"

योग्य तथा उचित वर से ही विवाह करने पर जोर देती हुई वह कन्या पुनः निवेदन करती है कि :

"आसन देखि बाबा डासन दीहौ,
मुख देखि दीहौ बीरा पान।
अपनी सम्पत्ति देखि दाइज दीहौ,
वर देखि दीहौ कन्यादान।।"

वर के चुनाव के संबंध में पंजाबी लड़की कहीं अधिक 'फ़ॉरवर्ड' दिखाई पड़ती है। वह अपने पिता से कहती है कि "ए पिता जी! मुझ कुँवारी के लिए वर चाहिए और ऐसा सुन्दर वर चाहिए जो तारों में चन्द्रमा के समान और पुरुषों में श्रीकृष्ण के समान हो।"

"बेटी चन्नण दे ओहले लाड़ी क्यूं खड़ी?
मैं ताँ खड़ी सी बावल! जी दे बार;
कन्या कुँआर बाबल वर लोड़िये।
नी जाइये, के हो जिहा वर लोड़िये?
तारेआँ बिच्चीं चंद, चंदा विच्चो कान्ह।
कन्हैया वर लोड़िये।

मारवाड़ी लड़की की पसन्द बड़ी विचित्र है। अंगूर की लता के नीचे खड़ी होकर फूल सूँघते हुए वह अपने पिता से प्रार्थना करती है कि "ए बाबा! मेरा विवाह अपने गाँव के आस-पास करने के बजाय, चाहे परदेस में करना परन्तु मेरी जोड़ी का वर ढूंढ़ना।" वह कन्या फिर कहती है कि "ए बाबा! मेरे लिए काला वर मत ढूँढ़ना, वह कुटुम्ब को लज्जित करेगा। गोरा वर मत ढूँढ़ना क्योंकि वह जरा सी मिहनत करेगा तो उसे पसीना आ जायेगा। मेरे लिए ऐसा वर ढूंढ़ना जो काशी में बास कर चुका हो अर्थात् शिक्षित हो। वह हाथी पर चढ़ कर विवाह करने आयेगा।"

"काचा दाख हेट बनड़ी पान चाबे, फूल सूंघे,
करे ये बाबाजी सूं बिनती।
बाबाजी देस देता परदेस दीजो,
म्हारी जोड़ी को वर हेरजो।
हँस खेल ये बाबाजी री प्यारी बनड़ी,
हेर्‌यो ये फूल गुलाब को।
कालो मत हेरो बाबाजी कुल ने लजावे,
गोरो मत हेरो बाबाजी, अंग पसीजे।

लाँबो मत हेरो बाबाजी सोंगर[1] चूँटै[2],
ओछो मत हेरो बाबाजी बावन्यू बतावै ।
ऐसो वर हेरो काशी को बासी,
बाई के मन भासी, हस्ती चढ़ आसी ।

गुजराती कन्या भी पति के चुनाव में किसी से पीछे नहीं है । वह अपनी रुचि के अनुकूल वर चुनना चाहती है । वह अपने दादा से कहती है कि "मेरे लिए ऊँचा वर मत खोजना क्योंकि लोग उसे ऊँट कहेंगे । मेरे लिए छोटे कद का वर भी मत खोजना क्योंकि वह ठिंगना कहलायेगा । मेरे लिए मोटा वर भी मत खोजना क्योंकि लोग उसे भोंदू या मूर्ख कहेंगे ।" गीत यह है

"दीकरी दादा जी ने बिनवे, रढ़ियालाँ रे मोती ।
ऊँचो ते वर ना खोलशो, ऊँचो ते ऊँटड़ो कहेवाशे ।
दीकरी दादाजी ने विनवे, रढ़ियालाँ रे मोती ।
नीचो ते वर ना खोलशो, नीचो ते गटीओ कहेवाशे ।
दीकरी दादाजी ने विनवे, रढ़ियालाँ रे मोती ।
जाड़ो ते वर ना खोलशो, जाड़ो ते भोंदू कहेवाशे ।"

पंजाबी, मारवाड़ी, भोजपुरी, अवधी और गुजराती लोक-गीतों को उद्धृत कर यह दिखलाने का यहाँ प्रयास किया गया है कि रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, भाषा आदि की अनेकता होने पर भी जहाँ तक मानव हृदय का संबंध है, वहाँ एकता पायी जाती है । इस देश के विभिन्न प्रदेशों की लड़कियों के हृदय में एक ही प्रकार की इच्छा, एक समान ही लालसा पाई जाती है । उनकी एक ही अभिलाषा है कि उनका पति सुन्दर तथा सुरूप मिले । कदाचित् भारत के ही नहीं यदि अन्य देशों के लोकसाहित्य का अध्ययन किया जाय तो उनमें भी यही बात दिखाई पड़ सकती है ।

पुत्री की विदाई

कन्या की विदाई का समय कितना करुणोत्पादक होता है इसे बतलाने की आवश्यकता नहीं । पितृ-गह में स्वतन्त्रता-पूर्वक जीवन बितानेवाली, दुलार तथा प्यार से पाली गई पुत्री एक अनजान तथा अपरिचित घर में जाती है । पिता के घर में सुखपूर्वक बिताये गये दिनों की याद, उसके दिल को मसोसने लगती है । उसकी मानसिक वेदना आसुओं की झड़ी के रूप में बहती दिखाई पड़ती है । ऐसे समय में बड़े-बड़े धैर्यधनी पुरुषों का भी धीरता का बाँध टूट जाता है । महाकवि कालिदास ने शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उद्विग्न-चेता, महर्षि कण्व, के मुख से जिन भावों की अभिव्यक्ति करवाई है वह संस्कृत साहित्य के प्रेमियों से छिपी नहीं है ।

मानव हृदय सभी युगों, कालों तथा देशों में समान रहा है । मनुष्यों के हृदय में जिस प्रकार प्राचीन काल में सुख-दुःख की अनुभूति होती थी, उसी प्रकार आज भी होती है । देश तथा काल के अन्तर से इस में तनिक भी व्यवधान नहीं पड़ा है ।

एक भोजपुरी लोक-गीत में कन्या की विदाई के समय माता-पिता के रोने का पारावार नहीं है । पिता के रोने के कारण गंगा में बाढ़ आ गई है । माता के रोने के कारण

उसकी आँखों के सामने अँधेरा छा गया है। भाई के निरन्तर अश्रुपात से उसके पैर तक की धोती भीग रही है। परन्तु भावज के नेत्रों में आँसू का बूँद भी नहीं दिखाई पड़ता।

"बाबा के रोवले गंगा बढ़ि अइली,
आमा के रोवले अनोर।
भइया के रोवले चरन धोती भीजेला
भउजी नयनवा ना लोर॥"

पितृगृह से विदा होनेवाली लड़की अपने पिता से कहती है कि ए बाबा! आज की रात भर इस क्लेश को सह लीजिए। कल तड़के ही उठकर मुझे बहुत दूर जाना होगा। हमारे चले जाने पर आपका द्वार जंगल की तरह सूना हो जायेगा और आपका आँगन भादों की काली अँधियारी रात की तरह भयानक हो जायेगा।

"सहु बाबा, सहु रे बाबा, आजु की रतिया हो।
बाड़ा हो पाराते हो बाबा, जाइबि बड़ी दूर।
दुअरा राउर होइहैं ए बाबा रन रे बन;
आँगन राउर होइहैं ए बाबा! भदउआ निसुराती।"

पुत्री की यह उक्ति कितनी सटीक है। वास्तव में उसके विदा हो जाने पर उसके पिता का घर श्मशान सदृश हो जाता है।

परन्तु यह भावना केवल भोजपुरी लोक-गीतों में ही नहीं पाई जाती बल्कि पंजाबी, गुजराती, तथा काश्मीरी लोक-गीतों में भी इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति हुई है। एक पंजाबी लोकगीत में कोई कन्या विदाई के समय अपने पिता से कह रही है कि ए पिता जी! मैं तो एक चिड़िया हूँ, मुझे तो एक दिन उड़ जाना होगा। मेरी उड़ान बड़ी लम्बी है। मुझे किसी अनजान देश में उड़कर जाना होगा। ए पिता! मेरे बिना तुम्हारा चौका-वर्तन कौन करेगा? तुम्हारे महल के बीच में मेरी माँ रो रही है।

"साँड़ा चिड़ियांदा चम्बा वे, बाबल असीं उड़ जाना।
साड़ी लम्बी उड़ारो वे, बाबल केहडे देश जाना।
तेरा चौका भाण्डा वे, बाबल तेरा कौन करे?
तेरा महल दाँ विच विच वे बाबल मेरी माँ रोवें॥"

ठीक इसी प्रकार कोई गुजराती बेन अपनी दशा का वर्णन करती हुई कहती है कि मैं तो एक हरे-भरे जंगल की चिड़िया हूँ। उड़कर परदेश चली आऊँगी। आज दादा जी के देश में हूँ, कल परदेश चली जाऊँगी।

"अमे रे लीलुड़ा बननी चर कलड़ी
उड़ी जांशु परदेस जो।
आज रे दादा जा ना देश माँ,
काले जांशु परदेस जो॥"

(मेघाणी--लोक साहित्य)

मैथिली के 'समदाऊनि' गीतों में भी पुत्री की विदाई के समय इसी प्रकार के भावों की अभिव्यक्ति हुई है। पुत्री की माता कहती है कि गाय को खूटे में बाँधा जा सकता है

परन्तु बछिया को कौन बाँध सकता है ? मेरा दामाद मेरी बेटी को लेकर भागा चला जाता है। पुत्री के विदा हो जाने पर माता किसी बटोही से पूछती है कि क्या तुमने मेरी बेटी और दामाद को रास्ते में देखा है ? इस पर पथिक उत्तर देता है कि ए बहन ! रास्ते में मैंने अशोक के वृक्ष के नीचे तुम्हारी बेटी और दामाद को देखा है। तुम्हारी बेटी की आँखों से सावन-भादों की झड़ी लग रही है और तुम्हारा दामाद हँस रहा है। तुम्हारी बेटी इस प्रकार रो रही है कि उसके रोने से गंगा में बाढ़ आ गई है और आनन्द में निमग्न तुम्हारे दामाद के हँसने से मेरी चादर उड़ गई है। करुणा से ओत-प्रोत यह गीत इस प्रकार है

"जइती बड़ि हे दूर।
लगती बड़ि हे बेर।
अँगने अँगने बुलु हँसहत जमाय।
धिआ हे समोधु सासु मन चित लाय॥
गैया के बँधितो में खुटा हे लगाय।
बछिया के लेल जाइय भागल जमाय॥
गैया जँ हुँकरय दुहान केरे बेर॥
बेटी के माए हुँकरय रसोइया केर बेर॥
बाट रे बटोहिया कि तुहि मोर भाय।
एहि बाट देखलों में धिया धी जमाय॥
देखलौं में देखलौं अशोकवा तर ठाढ़।
धीआ हकन कानु हँसइय जमाय॥
धियवा के कनइत सें गंगा बहि गेल।
दमदा के हँसइत में चादरि उड़ि गेल॥"

भोजपुरी लोकगीत में पिता के रोने से गंगा में बाढ़ आ जाती है—बाबा के रोवले गंगा बढ़ि अइली—परन्तु मैथिली गीत में पुत्री के अश्रुपात के कारण गंगा में बाढ़ आने का उल्लेख किया गया है।

राजस्थानी 'ओलूँ' (विदाई) के गीतों में पुत्री की उपमा कोयल से दी गई है। जिस प्रकार कोयल के न रहने से बन की शोभा नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार पुत्री के विदा हो जाने पर पितृ-गृह की शोभा जाती रहती है। इस राजस्थानी गीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं

"बन खण्ड की ए कोयल,
बनखण्ड छोड़ कठे चली।
थारी आले दीवाले गुड़ियाँ धरी,
बनखण्ड की ए कोयल, बनखण्ड छोड़ कठे चली।
थारी साथ सहेल्या उनमणी,
थारी माउजी थारे बिन उनमणा
थारी छोटी बैनड़ रोवै अकेलड़ी
थारो वीरो सा फिरै छै उदास

विलखत थारी भावजड़ी ।
थारो बाबो सा' फिरै छै उदास ।
माउजी थारी बिलख रही ।
बनखंड की ए कोयल, बनखंड छोड़ कठे चली ।"

(राजस्थान के लोक-गीत, भाग १)

राजस्थानी पुत्री के वियोग में उसकी सखी-सहेलियाँ उदास हो रही हैं। माता उन्मना है, उसकी छोटी वहन अकेली रो रही है। बडा भाई उदास फिरता है और भावज विलख-विलख कर रो रही है। और पिता की तो व्याकुलता का कुछ ठिकाना ही नहीं है।

मानव-हृदय सर्वत्र समान ही पाया जाता है। पुत्री की विदाई के अवसर पर मैथिली-माता के हृदय में जो कष्ट होता है उसी वेदना का अनुभव पंजाबी तथा गुजराती माता भी करती है।

शिल्प रचना में एकता

लोक साहित्य की शिल्प रचना पर जब हम विचार करते हैं तब उनमें अलौकिक एकता दिखाई पड़ती है। लोक गीतों को ही लें।

लोक-गीतों की सर्व प्रथम विशेषता है रचयिता का अज्ञात होना। किस लोक गीत को किस कवि ने बनाया इसका हमें पता नहीं है। संस्कार संबंधी हजारों गीत हिन्दी की विभिन्न बोलियों में विद्यमान हैं, परन्तु किन स्त्रियों ने उनका निर्माण किया यह कहना कठिन है। यही बात ऋतु संबंधी गीतों के विषय में भी कही आ सकती है। भोजपुरी प्रदेश में विजयमल, लोरकी, नयकवा बनजारा, विहुला, सोरठी आदि लोक-गाथायें प्रचलित हैं परन्तु इनके रचयिताओं के संबंध में आज तक निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सका। आल्हा के लेखक जगनिक का नाम अवश्य मिलता है परन्तु जो 'आल्हा' आजकल उपलब्ध होता है वह जगनिक की कृति तो अवश्य ही नहीं है। राजस्थान की सुप्रसिद्ध लोक-गाथा 'ढोला-मारू' तथा पंजाब की प्रेम-गाथा 'हीर राँझा' के रचयिताओं के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

लोक-गीतों की दूसरी विशेषता है किसी प्रामाणिक पाठ का अभाव। लोक-गीतों के संबंध में यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसका अमुक पाठ ही प्रामाणिक है। सच तो यह है कि जितने भी पाठ किसी गीत के मिलते हैं उन सबकी निजी विशेषता है। जगनिक के आल्हा का मूल रूप क्या था आज हम इसे बतलाने में असमर्थ हैं। 'ढोला मारू रा दूहा' जो आजकल उपलब्ध होता है उसका असली रूप यह नहीं था। कवि कुशललाभ ने इसमें बहुत कुछ परिवर्तन तथा परिवर्धन किया है। 'हीर राँझा' तथा 'राजा रसालू, के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है।

लोक-गीतों की आत्मा संगीत है। संगीत के बिना इन्हें निष्प्राण ही समझना चाहिए। अतः लोक कवियों ने गेयता का ध्यान रखते हुए इनकी रचना की है। ये गीत विभिन्न वाद्यों के साथ गाये जाते हैं। जोगी नामक साधु सारंगी बजाकर गोपीचन्द का गीत गाते हैं। फाग गाते समय ढोल तथा थाल का उपयोग किया जाता है। इंगलैण्ड में हार्प नामक वाजा बजा-कर चारण लोग लोकगाथाओं को गाते फिरते थे।

लोक-गीतों की सर्व श्रेष्ठ सामान्य विशेषता टेक पदों की पुनरावृत्ति है। इन पदों की पुनरावृत्ति से लोक-गीत के गाने में जान आ जाती है और वे सुनने में भी श्रोत्र-सुखद लगते हैं। शिष्ट (अलंकृत) काव्य में किसी पदकी पुनरावृत्ति 'पुनरुक्ति' दोष के अन्तर्गत आता है परन्तु लोकसाहित्य में यह गुण है। यही कारण है कि लोक-गीतों में टेक पदों की आवृत्ति बार-बार की जाती है। निम्नांकित झूमर

"मोर धानी चुनरिया इतर गमके।
मोरी बारी रे उमिरिया नइहर तरसे।"

में प्रथम पंक्ति की आवृत्ति अनेक बार हुई है। इसी प्रकार चैता के गीतों की प्रत्येक पंक्ति का आरम्भ 'आहो रामा' से और अन्त 'हो रामा' से होता है। मैथिली झूमर में भी यही बात पाई जाती है। **'तेरा बेलों की जाति बहार मलिनिया बाग में'** इस मैथिली गीत में 'मलिनिया बाग में' यह पद बार बार आता है। राजस्थानी तथा गुजराती लोक-गीतों में भी आवृत्ति की यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। किम्बहुना अंग्रेजी लोकगीतों में भी यही बात दिखाई पड़ती है। केवल एक ही उदाहरण यहाँ पर्याप्त होगा। कोई भाई अपनी दुराचारिणी बहन को छुरा मार देता है। इस पर मरती हुई उस लड़की से कोई पूछता है कि तुम अपने विभिन्न संबंधियों को कौन सी वस्तु छोड़ जाओगी ?

O what will you leave to your father, dear ? The silver-shod steed, that brought me here.

O what will you leave to your mother, dear ? My velvet-pall and my silken gear.

O what will you leave to your sister Grace ? My bloody clothes to wash and dress.

O what will you leave to your brother John ? The gallow's tree to hang him on.

O what will you leave to your brother's wife ? The wilderness to end her life.

इस गीत में O what will you leave to your......dear इन पदों की अनेक बार आवृत्ति हुई है जिससे इस गीत की सरसता और भी बढ़ गई है। ऐसे अनेक उदाहरण प्रो० चाइल्ड द्वारा सम्पादित "इङ्गलिश एण्ड स्कॉटिश पापुलर बैलेड्ज" नामक ग्रन्थ में पाये जाते हैं। कहने का आशय केवल इतना ही है कि प्रान्तगत तथा देशगत विभिन्नताओं के होते हुए भी लोकगीतों की विधि (technique) में एकता दिखाई देती है।

एक सुप्रसिद्ध विद्वान मोशिए आँयरे ने फ्रेन्च लोकगीतों की समानताओं का उल्लेख करते हुए कहा था कि इनमें (१) अन्त्यानुप्रास के स्थान पर ध्वनिसाम्य का प्रयोग (२) व्यक्तियों के कथनोपकथन की अक्षरशः पुनरुक्ति (३) कतिपय विषम संख्याओं—जैसे तीन, पाँच, सात का बारंबार उल्लेख और (४) दैनिक व्यवहार की वस्तुओं का सोने, चाँदी आदि का बना हुआ बतलाना पाया जाता है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो भोजपुरी लोक-गीतों में भी ये बातें पायी जाती हैं। न मालूम क्यों लोक कवि विषम संख्याओं के ही प्रेमी

दिखाई पड़ते हैं। "पाँच सखी अब मीलि के हरदी चढ़ावहु मोरा लाल के" इस भोजपुरी विवाह गीत में पाँच ही सखियों को निमन्त्रण दिया जाता है। गंगा स्नान करने के लिए केवल सात सखियाँ ही मिलकर एक साथ चलती हैं आठ या दस नहीं। अधिक तो क्या स्कूल के शरारती लड़कों की संख्या भी पाँच ही सात पाई जाती है। सम संख्या-दस बारह नहीं, जैसे

"सात, पाँच लरिका एक सन्तोस।
गदहा मरले तनिको ना दोस ॥"

मिथिला की स्त्रियाँ भी पाँच-सात की संख्या में ही फूल चुनने (कुसुम लोईने) के लिए जाती हैं। इसी प्रकार राजस्थानी तथा गुजराती गीतों के भी उदाहरण दिये जा सकते हैं।

दैनिक व्यवहार में आनेवाली वस्तुओं का सोना और चाँदी की बनी हुई होना भी लोक-गीतों की एक विशेषता है। भोजपुरी स्त्री अपने पति को सदा सोने की थाली में ही भोजन परोसती है। चाँदी के बड़े लोटे में गंगाजल पीने को देती है।

सोने के थारी में जेवना परोसलो।
जेवना ना जेवें अलबेला, बलमु कलकत्ता निकल गइले जी।
झझरे गेडुअवा गंगा जल पानी--
पनिया ना पीयें अलबेला--

पति के सोने के लिए चन्दन की लकड़ी का पलंग बनाया जाता है और वह रेशम की डोर (सूत) से बुना जाता है। अन्य लोक गीतों में भी इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है।

लोक-कहानियों की शिलपविधि का विश्लेषण करने पर वहाँ भी यही बात दिखाई पड़ती है। इन कथाओं की भाषा सरल तथा सरस है जिन्हें श्रोता आसानी से समझ सकें। शैली की क्लिष्टता इनमें कहीं भी नहीं दिखाई पड़ती। इन कहानियों का नायक प्रायः कोई न कोई राजा या राजकुमार होता है जिसके प्रेम या पराक्रम की कथा का इनमें वर्णन होता है। इसीलिए इनका प्रारम्भ कुछ इस प्रकार से होता है--"एक था राजा। उसके पाँच लड़के थे। ये राजकुमार शस्त्र-विद्या में बड़े निपुण थे।" इत्यादि। लोक-कथाओं में केवल आवश्यक और मार्मिक अंशों का वर्णन होता है। अनावश्यक तथा अनपेक्षित अंश यों ही छोड़ दिया जाता है।

लोक-कथायें सभी सुखान्त होती हैं। नायक के मार्ग में बीच-बीच में अनेक आपत्तियाँ और बाधायें उपस्थित होती हैं परन्तु अन्त में वे सभी नष्ट हो जाती हैं और उसका मार्ग प्रशस्त बन जाता है। कथा का अवसान दुःख में न होकर सुख में ही होता है। लोक-कथाओं की यह सुखान्तता उनकी एक सामान्य विशेषता है जो उन्हें एक सूत्र में बाँध देती है। यदि इन कहानियों के अभिप्राय (motif) पर विचार किया जाय तो उसमें भी अलौकिक समानता दिखाई पड़ती है। विमाता की दुष्टता का वर्णन प्रायः सभी प्रदेशों की कहानियों में पाया जा सकता है। "मयभा के कारण आजु तूहरी में ठोकय्या" भोजपुर की यह कथा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

गार्हस्थ्य जीवन का जो चित्रण लोक साहित्य में उपलब्ध होता है वह भी प्रायः

एकसमान ही है । दारुनिया या दुष्टा सास का वर्णन लोकगीतों में बहुत हुआ है । यह अपनी बहू को तरह-तरह से कष्ट देती है । वह उससे दिनभर काम करवाती है परन्तु खाने को भर पेट भी अन्न नहीं देती । इसी प्रकार से नन्द अपने भाई से भावज की चुगली करने के लिए सदा तैयार दिखाई देती है । 'अहिनकुलम्' की भाँति इनका विरोध शाश्वतिक दिखाई पड़ता है । एक भोजपुरी गीत में ऐसा उल्लेख पाया जाता है—राम की बहन (शान्ता) उनसे यह शिकायत करती है कि सीता रावण का चित्र 'उरेह' रही थी । इस पर राम सीता को वनवास दे देते हैं । ननद की कुटिलता के अनेक उदाहरण दूसरे प्रान्त के लोकगीतों में भी उपलब्ध होते हैं ।

इसी प्रकार से 'सौतियाडाह' का उल्लेख भी समझना चाहिए । एक कहावत है कि काठ की भी सौत अच्छी नहीं लगती । फिर वह जीवित रूप में हो तो कहना ही क्या । सपत्नीद्वेष का सजीव चित्रण इन गीतों में पाया जाता है । एक गीत में कोई स्त्री अपनी सौत के प्रति कह रही है कि उसकी छाती पर पत्थर कुटवाकर मैं पक्की सड़क बनवाऊँगी और उस पर चहलकदमी किया करूँगी । हिन्दी की विभिन्न बोलियों में इस कहावत के रूपान्तर पाये जाते हैं ।

लोक-साहित्य में जो स्वाभाविकता, स्वच्छन्दता और सरलता पाई जाती है वह उसका नैसर्गिक गुण है । शिष्ट कविता नियम के जंजीरों से जकड़ी हुई है, छन्द की नपी-तुली नालियों से प्रवाहित होती है, अलंकार के बोझिल भार से दबी हुई है परन्तु लोक-कविता इन सब नियमों और प्रतिबन्धों से परे है । इसमें न तो कविता-कामिनी को अलंकारों से लादने का प्रयास किया गया है और न छन्द के जाल में फँसाने का प्रयत्न । लोक-काव्य की ये ही विशेषतायें उसे शिष्ट काव्य (Poetry of Art) से पृथक् कर देती हैं । समस्त संसार के लोक-साहित्य में ये विशेषतायें समानरूप से पाई जाती हैं । विभिन्न देशों के लोक-साहित्य में समानभाव धाराप्रवाहित होते हैं । लोक-साहित्य में विविधता में एकता स्थापित करने का जो प्रयत्न दिखाई पड़ता है वह प्रयासपूर्वक नहीं किया गया है प्रत्युत अनायास ही हुआ है ।

---

१ वृक्ष विशेष का फल । २ तोड़ना ।

लोक-साहित्य में भाई-बहिन के सम्बन्धों का चित्रण

हृदय नारायण मिश्र

लोक साहित्य में भाई और बहिन के अलौकिक प्रेम की जो बाँकी झाँकी हमें देखने को मिलती हैं उसका दर्शन अन्यत्र कहाँ ? भाई के प्रति बहिन का प्रेम जितना प्रगाढ़ है, बहिन के प्रति भाई के प्रेम की साधना भी उतनी ही अधिक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लोक-गीतों, लोक-गाथाओं और लोक-कथाओं में इस प्रेम का जो चित्रण किया गया है वह दिव्य धरातल पर अवस्थित दिखाई पड़ता है, उसमें स्वार्थ की तनिक भी मात्रा नहीं है। ससुराल में बहिन के कष्टों को सुनकर जिस प्रकार भाई का हृदय टूक-टूक हो जाता है उसी प्रकार भाई को आपद्-ग्रस्त देखकर बहन का मन तड़पने लगता है। लोक साहित्य में भाई और बहिन के अलौकिक, दिव्य तथा स्वर्गीय प्रेम का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है, संभवतः वैसा संसार के किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

यह दिव्य प्रेम एकदेशीय नहीं है बल्कि भारत के समस्त राज्यों में इस प्रेम की समान धारा प्रवाहित होती है ! विभिन्न राज्यों की राजनैतिक सीमायें इस अविच्छिन्न प्रेम को विभाजित नहीं कर सकी हैं।

तुलनात्मक रूप में अध्ययन करने पर देखा जाता है कि उत्तर प्रदेश के गीत पंजाबी लोक-गीतों से अत्यधिक मिलते जुलते हैं। भाई के लिए पंजाबी लोक-गीतों में 'वीर' शब्द प्रयुक्त होता है। हमारे प्रदेश में भाई के लिए 'बिरना' शब्द का प्रयोग किया जाता है। बहिन की लाज यही भाई (बिरना) रखता है। दुःख के दिनों में या सुख के समय में बहिन बिरना की याद करती है। 'तीज' और 'कजरी' के मंगलमय दिन मंगलमय ही रहे हैं। भाई इसी समय बहिन को ससुराल से अपने घर लिवा जाता है। तनिक देर हो जाने पर बहिन भाई की बाट जोहये लगती है।

"उतरत आषाढ़वा रे चढ़त सवनवा जोहइ हो लागेउँ ना।
अपने भइया क बटिया जोहइ हो लागेउँ ना।"

एक दिन बहिन घर के बाहर आकर खड़ी होती है। उसे दूर से ही आता हुआ भाई दिखाई पड़ता है। भेंट होने पर वह उलहना देती है—

"कइलऽ कठिन करेजवा तुहउँ हो भइया ना।
अपने बबइया जी के हमही अउ तुहई,
तु हमरी खबरिया बिसरि गइल ना।"

यह सत्य है कि भाई के बिना बहिन का जीवन व्यर्थ है। भाई से ही बहिन का

महत्व होता है। कहावत के रूप में यह उक्ति प्रचलित है कि बिना भाई के बहिन की 'पीठ उघार' होती है। भाई उसका रक्षक होता है। ससुराल में उसका महत्व तब माना जाता है जब भाई उसके घर जाता है। एक बहिन दुखी होकर कह रही है

"एक दिन अवतेउ भइया हमरेऽ्ह देसवा हो ना।
भइया हमरी होती गरुअइया हो ना।"

बहिन के लिए ससुराल में कोई अपना नहीं होता। सास की बहू के प्रति प्रतारणा अनादि काल से चली आ रही है। ननद और भावज का विरोध आज भी प्रसिद्ध है। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि भाई से प्रेम करने वाली बहिन, ननद के रूप में भाभी से क्यों इतना रूठी रहती है। ससुराल में बहिन की प्रतारणा थोड़ी नहीं है। बहू के थोड़े से अपराध पर सास और ननद ताना मारती हैं। उसे अनेक कष्ट दिया जाता है जब कष्ट की सीमा अधिक हो जाती है तब बहिन भाई से कहती है

"भइया तोहइ बिना भइलिउँ कोइलिया हो ना।
सासु, ननद, भइया ! मारेली मेहनवा[1] हो ना।
भइया ! तोहइ बिना के से कहउँ दुखवा हो ना।
दिलवा क बतिया भइया ! दिलवा में सुलगइ हो ना।
भइया! जरि जरि भइलिउँ कोइलिया हो ना।"

इतना सुनकर भाई मोती के समान आँसुओं को गिराने लगता है। तत्काल भाई डोली लेकर आता है और बहिन को लिवा कर अपने घर चला जाता है

"एतना बचन भइया सुनलेनि हो ना,
भइया, मोतिया बरन अँसुआ ढारइँ हो ना।
चुप रहु चुप रहु ए बहिनी सोनवा हो ना,
बहिनी बिहरइ लगले मोर करेजवा हो ना।
लाली डोलिया फनवले बिरनवा हो ना,
राम बहिनी लिअवले नइहर अइले हो ना।"

भाई के दर्शन के लिए व्याकुल बहिन किसी चिड़िया से कहती है कि यदि मेरा भाई आएगा तो मैं तुम्हें दूध-भात खाने के लिए दूँगी। गीत की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं

"ससुरू दुआरे चनना क पेड़वा हो ना।
रामा तेहि चढ़ि बोलली चिरइया हो ना।
खोरिया[2] की दूध-भात तोहइ देबइ चिरई हो ना।
चिरई ! जउ[3] भइया अइहीं अनवइया हो ना।
खोरिया की दूध-भात देवहु न पायहु हो ना,
रामा भइया दुअरिया के ठाढ़ हो ना।"

भाई-बहिन के प्रेम का एक दूसरा पक्ष यहाँ से प्रारम्भ होता है। यह है विपत्ति का समय, अवसाद की वेला। बहिन विधवा हो जाती है, उसका रक्षक अब कौन है ? सास, ननद और देवर तो उसके पहिले के ही वैरी हैं। ऐसे समय में भाई ही

उसका सहायक होता है। भाई बहिन को अपने साथ लेकर ससुराल से चल देता है। मार्ग में एक नदी मिलती है जिसमें दोनों डूब कर अपने प्राणों का बलिदान कर देते हैं। बड़ा ही कारुणिक चित्रण है

"आवत देखेनि सासु हमरा बिरनवा,
सासु देइ लिहीं बजरइ केवरिया हो ना।"

इतना ही नहीं अपनी भाभी के भाई को देख कर देवर चारपाई उठा कर हटा देता है। घर में ननद चूल्हे की आग बुझा देती है। इतने पर भी भाई मानता नहीं, वह दरवाजे पर आकर बैठ जाता है। बहिन भाई से भेंट करती है। घर का कुशल-समाचार पूंछने पर बहिन अपना सब दुखड़ा सुनाती है। भाई कहता है इतना दुख तो सभी घरों में हैं, अब तुम अपने हृदय (पेट) की बात सुनाओ। बहिन कहती है

"काह कही भइया पेटे क हलिया,
भइया! पेटवा बहुत दुखवा बाटइ हो।
काठ करोवन भइया तरछी क धोवन,
गगरी क तरछन भइया पनिया हो।
भइया! इहइ हमइ सीलइ हो।"

बहिन का इतना कष्ट सुन कर भाई से न रहा गया। भाई बहिन दोनों वहाँ से चल देते हैं

"एतनी बचन भइया सुनही न पाए,
अरे भइया-बहिनी धइ लिहे डगरिया हो ना।
एक बन गइले दुसर बन गइले,
अब तिसरे में नदिया अपढ़वउ[4] हो ना।"

इस अपार नदी को पार करने में दोनों असमर्थ रहे। घर तक नहीं पहुँच सके। भाई-बहिन का कौन समाचार लाने वाला है? दोनों प्राण छोड़ कर नदी में विलीन हो जाते हैं

"सिंकिया चिरिय चिरि नइया बनाए हो,
भइया बहिनी भए असवरवा[5] हो ना।
एक डूभ डुभलेनि दुसर डूभ डुभलेनि,
तिसरे में गए तरवोरवा हो ना।"

इस प्रकार भाई-बहिन की जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।

विदाई के गीतों में—जो 'गवना के गीत' के नाम से प्रसिद्ध हैं—भाई और बहिन के प्रेम का चित्रण अद्वितीय है। सात भाइयों के बीच में एक बहिन आदर की दृष्टि से देखी जाती है। विवाह के बाद बहिन सतिमा के विदा होते समय उसके सातों भाई उसके वियोग के कारण अश्रुपात कर रहे हैं। इसके साथ ही सारा गाँव भी रोता दिखाई पड़ रहा है

"राजा भरथरी के सात लड़िकवा,
सातउ में सतिमा अकेल हो।

जब मोर सतिमा गवनवइ जइ हो,
लंका गरद होइ जाइ हो ।
रोवइ अटइनि रोवइ पटइनि
रोवइ कुइयाँ पनिहार हो ।
डड़िया धरे सातउ भइया रोवइँ
सतिमा गवनवाँ के जाइ हो ।"

लोकगीतों में बहिन ने भाई से कम उत्सर्ग नहीं किया है। एक जाँत का गीत 'दउलतिया' के गीत के नाम से प्रसिद्ध है। इस गीत में बहिन ने भाई के लिए लोकप्रथा की रक्षा करने के हेतु और जन-कल्याणार्थ अपने सुनहले जीवन का उत्सर्ग कर दिया है। यह प्राचीन प्रथा है कि जन-कल्याण के लिए जलाशय खुदवाए जाने चाहिए। यह बड़े धर्म का कार्य है। धर्म से अनुप्राणित व्यक्ति इस कार्य को प्रारम्भ करते हैं। उनका यह धार्मिक कार्य धर्म के बल पर ही पूर्ण होता है। बड़े अभाग्य का विषय होता है जब कि खुदाए गए जलाशय में जल न निकले। एक समय की घटना है। किसी पिता ने बड़े उत्साह से तालाब खुदवाया परन्तु उसमें जल न निकला। तालाब बारह वर्ष तक खोदा गया, इतने पर भी उसमें जल के निकलने के लिए जेठ पुत्र या पुत्री की बलि आवश्यक थी

"बरह बरिस बाबा सगरा खनाए हो ना,
अब नाहीं भए सगरा में पनिया हो ना,
अब सगरा माँगता 'दउलतिया' हो ना ।"

पिता पंडित को बुलवा कर दउलति के लिए पत्र लिखवा रहा है। पत्र लिख कर तैयार हो गया। नाई द्वारा पत्र भेज दिया गया। बहुत दूर जाने पर दउलति का घर मिलता है। दउलति नाई को देखकर प्रसन्न होती है और सोचती है कि हमारे यहाँ सुदिन आ रहा है। नाई से समाचार पूछने पर उसको ज्ञात होता है कि न तो भाई का विवाह है और न घर में किसी को पुत्र पैदा हुआ है बल्कि

"तोहरइ बाबा खनाए सगरवा हो ना,
कि सगरा माँगत बा जेठ भइया हो ना,
कि दउलति बहिनिया हो ना ।"

बहिन चिट्ठी लेकर दबा लेती है और विदाई के लिए अपने ससुर से आज्ञा माँगती है। ससुर कहता है यदि तुम्हारे यहाँ शादी पड़ी है तो तुम्हारा बिरना अवश्य तुम्हें लिवा जाने के लिए आएगा। इसी प्रकार का उत्तर सास भी देती है। परन्तु दउलति उनकी आज्ञा नहीं मानती है

"सब क कहलवा हम मेटि देबइ हो ना,
अपने नइहर हम त जाबइ हो ना ।"

वह कहती है कि यदि भाई मर जाता है तो पिता का वंश नहीं चलेगा और हमारे मरने पर यहाँ से नाता टूट जायगा। यह अच्छा है कि मैं मर जाऊँ परन्तु भाई बच जाय।

"भइया के मरे होए निरबंसवा हो ना,
हमरे मरे नतवा टुटिहीं हो ना।"

बहिन कहारों को बुलाती है और डाड़ी पर चढ़कर चुपके से नइहर की ओर चल देती है। कुछ दूर पहुँच जाने पर कहारों से डाड़ी को छिपाने के लिए कहती है क्योंकि तालाब के निकट उसकी डोली पहुँच गई है। वहाँ से बहिन देखती है कि उसका पिता बीच सागर में बैठा उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। अपनी पुत्री दउलति के पहुँचते ही 'बाबा' तलवार के एक ही वार से उसके सिर को धड़ से अविलम्ब अलग कर देता है। माता और भाई तालाब के चारों ओर विलाप करते हुए घूम रहे हैं कि बहिन का दर्शन हो जाय। परन्तु वह कहाँ है? वह तो भाई के लिए अपने प्राणों को त्याग कर दूसरे लोक में चली गई है।

"जब दउलति पहुँचिनि बीचइ सगरवा हो ना,
बाबा खींचि तरुअरिया काटे मुड़िया हो ना।
साग तब सगरा उठल हहकारी हो ना,
सगरा के आगे पीछे फिरइँ माई, भइया हो ना
अब दउलति के देखहु न पाएहु हो ना।"

पिता का यज्ञ पूर्ण हो गया। तालाब में जल ही जल हो गया। भाई की जान बच गई। वंश परम्परा का उच्छेद नहीं हुआ। परन्तु बहिन ने भाई के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी।

लोकसाहित्य में प्रचलित राजा गोपीचन्द का अपनी बहिन के प्रति प्रेम अद्वितीय है। जब राजा गोपीचन्द योगी बनने के लिए माता से आज्ञा माँगते हैं तब उनकी माता आशीर्वाद देते हुए प्रतिज्ञा कराती है कि सब जगह से तो भीख माँग कर खाना परन्तु बहिन के घर मत जाना। यह वचन गोपीचन्द को मान्य नहीं है। वे कहते हैं कि माता जी! हम सब जगह तो माँग करके भोजन करेंगे परन्तु बहिन के यहाँ भी अवश्य ही जायेंगे।

"गुदरी सिआएनि गोपीचन्दवा कन्हिया प लिहेनि,
अब झपटि क बइठे बखरिया हो ना,
मचिअइ बइठी माई हो बढ़इतिनि,
माई मुख भरि देतिउ असिसवा हो ना,
सगरी नगरिया गोपीचन्द माँगि जाँचि खाएउ हो ना।
बहिनी-नगरिया मति जाय हो ना,
सगरी नगरिया माँगि जाँचि खावइ,
माई! बहिनी-नगरिया हम जावइ हो ना।"

गोपीचन्द भीख माँगते, खाते, वंशी बजाते हुए, बहिन के देश में पहुँच जाते हैं। गली-गली में उनकी वंशी सुन कर बहिन जान जाती है कि यह मेरा भइया गोपीचन्द ही है। एक दिन बहिन भिक्षा देने के लिए स्वर्ण और चावल पात्र में रख कर निकलती है। साक्षात्कार होने पर दोनों प्रेमवश रोने लगते हैं। उनके रोने पर धरती फट जाती है और भाई-बहिन उसी में समा जाते हैं।

"गलियाँ कि गलियाँ गोपीचन्द बँसिया बजावइ हो ना,
अपनी खिरकिया से बहिनी निहारइ हो ना।
जनूँ बँसिया बाजइ गोपीचन्द भइया क ना।
तर किहीं सोनवाँ उपर तिल चाउर,
अब जोगिया के भीखि नावइ निसरी हो ना।
भिखअइ नाइ बहिनी मोहवा निहारइ हो ना,
भइया ! कवन पपिनिया बनवा दिहेसि हो ना।"

गोपीचन्द के इस गीत में भाई बहिन के प्रगाढ़ प्रेम का पता चलता है। यह नितान्त शुद्ध तथा अलौकिक प्रेम है।

जयसिंह, राजा होरिल सिंह की बहिन वसुमती से प्यार करता है। वसुमती अपने समय की अद्वितीय सुन्दरी है। एक दिन वह अपने पिता के सागर (तालाब) में अपने केश धोने के लिए पहुँचती है। उसी समय जयसिंह से वसुमती का साक्षात्कार हो जाता है। राजा जयसिंह प्रेम-विभोर हो जाता है। वसुमती का परिचय पाते ही जयसिंह के दो सिपाही होरिल सिंह के यहाँ जाते हैं। होरिल सिंह पहुँच कर जयसिंह को प्रणाम करता है और बुलाने का कारण पूछते हुए कहता है कि आपका हमारे ऊपर कौन सा क़र्ज़ है ? जयसिंह उत्तर देता है कि क़र्ज़ नहीं है बल्कि तुम्हारी बहिन वसुमती से मैं विवाह करना चाहता हूँ। परन्तु होरिल सिंह के द्वारा इस प्रस्ताव को अस्वीकार करने पर जयसिंह राजा होरिल सिंह को कठिन कारावास की सज़ा देता है।

बहिन वसुमती अपने भाई को मुक्त कराने का उपाय सोचती है। वसुमती को एक ओर प्रेम-पिपासा सता रही है, दूसरी ओर कुलमर्यादा। भाई का प्रेम प्रधानता प्राप्त करता है और जयसिंह का प्रेम डूब जाता है। बहिन भरी सभा में पहुँच कर जयसिंह से भाई को उन्मुक्त करने के लिए प्रार्थना करती है। जयसिंह होरिल सिंह को मुक्त कर देता है। वसुमती जयसिंह के साथ चल देती है। 'चनना' की डोली आती है

"चनना क डड़िया बसुमती फनावइ हो ना,
कि लगि चलव तोहरे गोहनवाँ हो ना।
चनना कि डड़िया बसुमती बइठी हो ना,
अब घोड़वा चढ़ल जयसिंह चलेनि हो ना।"

वसुमती जयसिंह के साथ चल देती है। थोड़ी दूर पहुँचने पर पिता का जलाशय और भाई की फुलवारी मिलती है। वसुमती कहारों को सोने के ज़ेवर देने के प्रलोभन द्वारा स्नान करने के लिए डोली को रोक देने को कहती है। यद्यपि जयसिंह रोकता है परन्तु वसुमती कहती है कि

"तोहरा सगरवा हम निति क नहावइ हो ना,
हमरे बाबा क सगरवा दुल्हम होइहीं हो ना।"

अब वह समय आता है जिसके लिए वसुमती ने पहले से विचार कर लिया था। अब वह अपने भाई की आन रखती है, अपने दोनों कुलों की रक्षा करती है। वह जयसिंह के प्रेम को ठुकरा देती है

"जब बसुमती गइलिनि बीच सगरवा हो ना,
तब जल क लेवइ लगी थहिआ हो ना।
एक बूड़ बुड़ली दुसर बूड़ बुड़ली हो
तिसरे गइनि तरबोरवाँ हो ना।"

वसुमती का यह छल जयसिंह को ज्ञात हो जाता है। वह बैठ कर रोने लगता है। तालाव में सोने का जाल डलवा कर वह उसे ढूँढता है परन्तु जाल में सेवार और घोंघे ही आते हैं। राजा होरिल सिंह के ढुंढवाने पर वसुमती मिल जाती है। भाई की आन और शान बच जाती है

"सोनवा क जलिया नवाएसि जयसिंह रजवा हो ना,
अब बझी आवइ घोंघवा सेवरवा हो ना।
पटवा क जलिया नवाएसि होरिल भइया हो ना,
अब बझी आवइ बसुमति बहिनियाँ हो ना।
मोहवा पटुक देइक हँसइ होरिल भइया हो ना,
अब दूनउ कुलवा राखेसि बहिनियाँ हो ना॥"

हमारे यहाँ प्रचलित अनेक जातियों के गीत गाथा के रूप में पाए जाते हैं। पासियों के 'पँवारा', तेलियों के 'बंजारा' और अहीरों के 'चनैनी' या 'लोरिक' इसके उदाहरण हैं। लोकगाथाओं में भाई-बहिन का चित्रण अद्वितीय रूप में पाया जाता है। 'चनैनी' में 'चनवा' का भ्रातृप्रेम अनूठा है। इन गाथाओं में कर्तव्यपरायणता, भ्रातृ-प्रेम, सौहार्द्र, संयम और मर्यादा देखते ही बनती है। इन में जहाँ एक ओर युद्ध है तो दूसरी ओर प्रेम। एक ओर अपहरण है तो दूसरी ओर रक्षा। गाथाओं में अनुपम ढंग से भाई-बहिन का स्नेह चित्रित दिखाई पड़ता है।

लोकसाहित्य का कोई अंग भाई-बहिन के प्रेम से रहित नहीं है। लोककथाओं में बहिन और भाई का चित्रण सुन्दर रीति से हुआ है।

'कउआ हकनी' नामक एक कहानी में भाई-बहिन का चित्रण मिलता है। कहानी कारुणिक है। चित्रण इस प्रकार है। एक राजा को पुत्र और पुत्री पैदा होते हैं, परन्तु सौतेली माँ उन्हें कुम्हार के जलते आँवाँ में छोड़ देती है। वे दोनों जीवित ही कुम्हारिन को मिलते हैं। परन्तु राजा उनको मरवा डालता है। फिर वे तालाव में 'अम्बा' और 'केतकी' के पौदे हो कर उत्पन्न होते हैं। खूब फूलते हैं। परन्तु वे फूल सौतेली माँ को नहीं मिलते हैं। इसलिए बढ़ई को उसे कटवाने के लिए वह आज्ञा देती है। परन्तु दोनों भाई-बहिन आकाश लोक में यह गीत गाते हुए चले जाते हैं

"अरे अरे केतकी बहिनियाँ हो ना,
बहिनी डार पात लागि जाहु अकास हो ना,
बहिनी आवत बाटे बाबा क बढ़इया हो ना।"

फिर राजा स्वयं जाते हैं। दोनों पौदे पत्तों और फूलों से लद जाते हैं और आपस में कहते हैं

"अरे अरे केतकी बहिनियाँ हो ना,

बहिनी डार पात लागि सोहरहु सगरवाँ हो ना ,
बहिनी आवत बाटे बाप पपिअवा हो ना ।"

पिता उन दोनों पौदों को कटवा देता है । काटने पर बारह-बारह वर्ष के पुत्र और पुत्री निकल आते हैं । राजा इन दोनों को राज्यभार सौंपता है । इस कथा में सौतेली माँ का दुर्व्यवहार तथा भाई-बहिन का प्रेम चित्रित किया गया है ।

इसी प्रकार सोन चिरई नामक कहानी है । इसमें भी सात भाई 'सोन चिरई' नामक बहिन का बहुत आदर-सत्कार करते हैं । प्रेम के ही कारण सातों भाई अपनी-अपनी स्त्रियों को जलते हुए तेल की कड़ाही में डाल कर मार डालते हैं क्योंकि स्त्रियाँ उनकी बहिन को प्यार की दृष्टि से नहीं देखती हैं ।

प्रकीर्ण साहित्य में भी भाई-बहिन के विषय में कुछ कथन मिलते हैं । लोकोक्ति और मुहाविरों में भाई-बहिन का वर्णन उपलब्ध होता है । बहिन के लिए भाई का क्या महत्व है इसका पता इस उक्ति से चलता है

"केहुनी के घाव, अउ भाई के चोट ना सहाला"

भाई की चोट बहिन से नहीं देखी जा सकती । विद्रोही भाई भी प्यार का पात्र होता है । नाता निभाना पड़ता है । कहा गया है "धोए नात न छूटइ" । भाईके लिए एक यह भी उक्ति कही गई है--'भाई भय दूर करने के लिए ही होता है ।' इसीलिए बहिन भाई का मुँह देखती है ।

एक दृष्टि से इस प्रसंग की और मीमांसा करनी है--वह है लोकप्रथाओं में चित्रित भाई और बहन । यही है लोकसाहित्य की सामाजिक व्याख्या । समाज के प्रत्येक अंग में बहिन-भाई के साथ रहती है । भाई जन्म लेता है तब बहिन सौत-गृह में जाकर अपना न्योछावर लेती है । भाई का बरुआ या व्रतबन्ध होता है तो बहिन अपना नेग माँगती है । मुंडन में भाई के बाल को बहिन ही अपने आँचल में ले कर रोपती है । तिलक में बहिन ही भाई के आँख में काजल लगाती है, श्रृंगार करती है । इसके बदले वह स्वर्ण और वस्त्र न्योछावर में पाती है । यही नहीं, एक समय ऐसा भी था जब बहिन भाई को सजा-धजा कर आरती उतारती और खुशी-खुशी रण में भेजती थी । भाई के विजयी होने पर बहिन अपनी माता का और भावज का भाग्य सराहती । शायद भाई बहिन के रक्षा-बन्धन की प्रतिज्ञा को भी नहीं भूलता । हर बहिन भाई को रक्षा-बन्धन के दिन हाथ में राखी बाँध कर अपने को धन्य समझती है । हमारे यहाँ एक विशेष प्रथा कजली के दिन भी है । बहिन भाई की शिखा में 'जरई' बाँधती है ।

यह तो समाज में बहिन का कर्तव्य भाई के प्रति है । अब भाई का प्रेम बहिन के प्रति क्या है इसे देखें । बहिन बारह वर्ष की हो गई । अब पराए की होगी । भाई के घर नहीं रहेगी । भाई और पिता दोनों कन्या के लिए कुछ धार्मिक कृत्य करते हैं । बहिन के विवाह में भाई ही दहेज देने का अधिकारी माना जाता है । जब तक भाई है तब तक अन्य कोई 'तिलक' नहीं चढ़ा सकता । ब्याह में पिता तो कन्या-दान करता ही है परन्तु भाई के बिना बहिन का ब्याह पूर्ण नहीं यह शास्त्र को भी मान्य है । पिता कन्यादान कर चुकता है, भाई शान्ति के लिए 'लइभुजवा' (लाजा होम) करता है । इसे 'लावा परछना' भी कहते हैं । कन्या-दान

के समय भाई अपनी बहिन और वर के हाथ पर अविराम अटूट जल की धारा गिराता है। इसी समय बहिन कहती है

"अरे अरे भइया कवन राम,
तोरि धरिया न टूटइ।
धार टूटे पति जइहँइ,
तोरि कुजुगुति होइहीं।"

'लाजा होम' करते समय भाई से कहा जाता है

"अँगुरी न मोरहु कवन राम,
उजे धनिया तोहार हो।
लउआ परछउ कवन राम,
उजे बहिनी तोहार हो।"

'लाजा होम' भाई ही क्यों करता है? हिमाचल का एक मात्र पुत्र मैनाक इन्द्रबज्र के भय से समुद्र में छिपा था। नगराज को चिन्ता हुई, तब भगवान विष्णु ने कहा

"अत्र चिन्ता न कर्तव्या नगराज! कथंचन।
अहं भ्राता जगन्मातुरेतदेवन्न चान्यथा॥"

और भगवान विष्णु ने लाई भूनी।"[७]

भाई का एक काम और भी अवशेष है। विदाई या गवना के समय भाई डोली के निकट खड़ा हो कर, मुँह में पानी ले कर एक ओर से दूसरी ओर को डोली के ऊपर से 'कुल्ला' कर देता है। बहिन की डोली दूर देश को चली जाती है।

वही बहिन फिर हरे-भरे सावन में नइहर की ओर देखती है। नयन थक जाते हैं, आँसू सूख जाते हैं परन्तु भाई हृदय से ओझल नहीं होता।

१–ताना, व्यंग
२–कटोरा में
३–जब
४–अपार
५–चढ़ना
६–साथ
७–"कल्याण", हिन्दू संस्कृति अंक, भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान, पृ० ६२१।

जौनसारी लोकगीतों में रोमांस

गौरीशंकर भट्ट

प्रत्येक संस्कृति के लोकगीत उसकी लोकवार्ता का एक अभिन्न अंग होते हैं। लोकवार्ता की परिभाषा संस्कृति की मौखिक प्रथाओं के रूप में की गई है। सामान्य समाजों में लिपि के अभाव और सुगठित एकरूपता के कारण मौखिक प्रथाओं का प्राधान्य रहता है क्योंकि मौखिक प्रथायें ही ऐसी स्थिति में, कालगत-संस्कृति-प्रसरण का मुख्य माध्यम बन जाती हैं। इस प्राधान्य और विशेषता के कारण ऐसे समाजों में लोकवार्ता अनेक रूपों और संस्कृति के विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान रहती है। इसी कारण, लोकवार्ता के अन्तर्गत पौराणिक और अन्य प्रकार की कथाओं, गीतों, कहावतों, विभिन्न अन्ध-विश्वासों, पशु-पक्षी तथा वनस्पति सम्बन्धी कहानियों, जन-नृत्य और जन-नाटक तथा अनेकानेक मृत रूढ़ियों को रखा जाता है।[1] अपनी इस व्यापक विशेषता के कारण लोकवार्तायें सामाजिक-सांस्कृतिक वास्तविकता को स्थायित्व प्रदान करने में सहायक होती हैं क्योंकि इन्हीं के द्वारा समाज-संस्कृति व्यक्ति तक पहुँचने में सफल होते हैं।

लोकवार्ता का एक अभिन्न अंग होने के कारण लोकगीत भी सामाजिक-सांस्कृतिक वास्तविकता को स्थायित्व प्रदान करने में सहायक होते हैं। यह निसन्देह है कि लोकगीत संगीतमय होते हैं, उनमें कवित्व होता है; अतः वे आनन्दप्रद होते हैं। पर लोकगीतों की वास्तविकता यहीं तक सीमित नहीं है। लोकगीत मौखिक प्रथाओं के रूप में, संस्कृति को स्थायित्व प्रदान करनेवाले अन्य तत्वों के साथ मिलकर एक प्रकार का वातावरण उत्पन्न करते हैं, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति की शिक्षा-दीक्षा होती है और उसके फलस्वरूप व्यक्ति संस्कृति के सांचे में ढल जाता है। लोकगीत एक ओर संस्थाओं से सम्बन्धित रहते हैं तो दूसरी ओर संस्कारों, रूढ़ियों और सामाजिक मर्यादाओं से। लोकगीत संस्कृति की आत्मा को अपने में समेटे रहते हैं और इसी कारण अनेक सांस्कृतिक स्थितियों में व्यक्ति से परे, वे एक प्रकार का वातावरण उपस्थित करते हैं जिसमें सांस्कृतिक संचारिकता अत्यधिक प्रखर हो उठती है और संस्कृति मानव-मस्तिष्क के अधिकतम गहरे पटल पर अपनी स्पष्ट एवं स्थायी छाप लगाने में सफल होती है।[2] लोकगीतों का सामाजिक ज्ञान और आदर्श के दृष्टिकोण से भी अध्ययन किया जा सकता है। आदर्श और वास्तविकता को अपने में समेटे हुए सामाजिक ज्ञान देश-काल-गत होता है और इस कारण उसकी व्युत्पत्ति सामाजिक वास्तविकता से होती है। लोकगीत भी सामाजिक सांस्कृतिक वास्तविकता की उपज होते हैं। अतएव वे उससे दूर नहीं होते हैं। उसे समझने का लोकगीत एक सुन्दर माध्यम है।

इस दृष्टिकोण से प्रस्तुत लेख में जौनसारी लोकगीतों में वर्णित रोमांस का अध्ययन

प्रस्तुत किया गया है । रोमांस अंग्रेज़ी भाषा का शब्द है और उसका अर्थ है गद्य अथवा पद्य में अवास्तविक वर्णन जो जीवन की वास्तविक सीमा से परे होता है ।[३] अंग्रेज़ी और हिन्दी साहित्य में रोमांस का अर्थ रूढ़िगत होगया है जिसके अनुसार जनसाधारण में आज-कल रोमांस का अर्थ है अवास्तविक प्रेम । वास्तविक प्रेम विवाह में परिणत होजाता है किन्तु अवास्तविक प्रेम अपूर्ण रहता है ; उसमें अमर वेदना और अभिलाषा का पुट रहता है । राइमर के अनुसार रूमानी प्रेम सदैव अपूर्ण और स्वच्छन्द होता है, उसमें प्रेमी और प्रेमिका का मिलन नहीं होता है और इसके मार्ग में सदैव रुकावटें आती रहती हैं । रूमानी प्रेम और अवांछनीय यौन-सम्बन्ध दो अलग-अलग वस्तुयें हैं । नैराश्य और मानसिक उदात्ती-करण रूमानी प्रेम के दो प्रधान आधार स्तम्भ हैं । कामुक अभिलाषा या यौन-सम्बन्ध रूमानी प्रेम का अन्त है । अतएव, रूमानी प्रेम एक चिर मिलन की भावना है जिसमें सतत अभिलाषा का प्राधान्य रहता है ।[४]

वर्तमान समाज में रूमानी प्रेम का आधार है एक प्रकार की सामाजिक मानसिक पृष्ठभूमि । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि रूमानी प्रेम की भावना वर्तमान समाज की ही विशेषता है और वर्तमान समाज में ही पायी जाती है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि रूमानी प्रेम का आधार है नैराश्य और मानसिक उदात्तीकरण, जो लगभग सभी समाजों में पाये जाते हैं यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति के उपकरण विभिन्न समाजों में भिन्न होते हैं । वास्तव में यदि देखा जाय तो शारीरिक और यौन आवश्यकतायें ही अधिकतर नैराश्य और मानसिक उदात्तीकरण की जन्मदात्री हैं यद्यपि उनकी अभिव्यक्ति सामाजिक संस्थाओं के अनुसार होती है । इसी कारण, सतत अभिलाषा वर्तमान समाज में ही नहीं, अपितु सभी समाजों में पाये जानेवाले रूमानी प्रेम का आधार है । किन्तु इस अभिलाषा के स्वरूप, प्रकार और अभि-व्यक्ति के उपकरणों पर सांस्कृतिक संस्थाओं की छाप रहती है । वर्तमान समाज में शहरी-करण, उसकी शक्तियों और उनसे प्रादुर्भूत सामाजिक संगठन ने एक प्रकार की रूमानी प्रथा को जन्म दिया । उसी प्रकार अन्य समाजों में सामाजिक संगठन और सांस्कृतिक संस्थायें रूमानी भावना, उसकी अभिव्यक्ति के उपकरण और मानव व्यवहार में सामाजिक, सांस्कृतिक और मानसिक स्तरों पर रूमानी प्रथाओं को जन्म देते हैं; जिनका आंशिक वर्णन हमें वहाँ के लोकगीतों में मिलता है । अतएव, जौनसारी लोकगीतों में वर्णित रोमांस, वर्तमान समाज में पाये जानेवाले रोमांस के अनुसार, जौनसारी सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण में पल्लवित रूमानी भावना, रूमानी प्रथाओं और जीवन की कुछ आवश्यकताओं पर निर्भर है । वहाँ के लोकगीतों में वर्णित रोमांस उस समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में ही अधिक स्पष्ट एवं बोधगम्य हो सकता है ।

उत्तर प्रदेश में, देहरादून ज़िले का पश्चिमोत्तर पर्वतीय प्रदेश, जो चकराता तहसील के अन्तर्गत आता है, जौनसार बावर के नाम से प्रसिद्ध है । पूर्वोत्तर में यमुना और दक्षिण-पश्चिम में तौंस[५] इन दो नदियों से परिवेष्ठित यह प्रदेश हिमालय की निम्नतर पर्वत श्रेणियों में बसा हुआ है । अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के कारण यह प्रदेश उस बड़े सांस्कृतिक प्रदेश का एक भाग है, जो वर्तमान राज्यों की राजनैतिक सीमाओं की अवहेलना करता हुआ, टिहरी गढ़वाल और हिमांचल प्रदेश तक फैला हुआ है । पर्वतीय होने के कारण यह कृषि प्रधान

प्रदेश है। भीमकाय, गगनचुम्बी पर्वतों की सघन घाटियों में यहाँ के निवासी भेड़-बकरी चराया करते हैं और उनसे ऊन प्राप्त करते हैं। पर्वतों की ढलान पर, सीढ़ीनुमा बने हुए खेतों में गेहूं, धान, जौं, कोदों, साँवा, चौलाई, अदरख और आलू इत्यादि की खेती होती है। यहाँ का जीवन-यापन एक निरन्तर परिश्रम और साधना का क्रम है।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से द्रौपदी प्रथा[६] इस प्रदेश की एक प्रधान विशेषता है। इस प्रथा के अनुसार एक परिवार में सभी सगे अथवा सौतेले भाइयों के बीच एक या एक से अधिक स्त्री होती है। इस सर्वमान्य प्रथा के अपवाद और अनेक रूप भी मिलते हैं। कहीं कहीं जितने भाई होते हैं उतनी ही स्त्रियाँ होती हैं और किसी भी स्त्री पर किसी भाई का कोई विशेष अधिकार नहीं रहता है। कहीं कहीं यौन सम्बन्धों की सीमाएँ निर्धारित करदी जाती हैं; जैसे पांच भाइयों में दो की एक स्त्री हो सकती है और तीन की एक। कहीं कहीं छोटे भाइयों का सम्बन्ध बड़े भाई की स्त्री के साथ रहता है किन्तु बड़े भाई का छोटे भाई की स्त्री के साथ पति-पत्नी का सम्बन्ध नहीं रहता है। यदि आयु में अधिक असमानता होती है तो यौन-सम्बन्ध को दूर रखा जाता है। वर्तमान समय में एक विवाह पर ज़ोर दिया जा रहा है यद्यपि इस परिवर्तन ने अभी तक पूर्ण व्यवहारिक वास्तविकता का रूप नहीं लिया है। बहुपतीत्व के साथ साथ बहुपत्नीत्व भी पाया जाता है यद्यपि बहुपत्नीत्व की प्रथा उतनी प्रधान नहीं है। द्रौपदी प्रथा और बहुपत्नीत्व दोनों को सांस्कृतिक अनुमति मिली हुयी है, पर समाज में द्रौपदी प्रथा का ही प्राधान्य है। कालगत प्रक्रिया में जौनसारी परिवार अनेक रूपों में अवतरित होता रहता है, जिसके कारण परिस्थिति और उपयोगिता में निहित हैं।[७]

द्रौपदी प्रथा के अस्तित्व और उत्पत्ति पर तीन मुख्य सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं। डा० राम नारायण सक्सेना के अनुसार आर्यों में बहुपतीत्व की प्रथा थी और हिन्दू-कुश की तलहटी से आयी हुई जो आर्य शाखायें इस प्रदेश में बसीं वे बहुपतीत्व (द्रौपदी-प्रथा) का पालन करती रहीं।[८] डा० मजूमदार के अनुसार जौनसार बावर में मातृसत्तात्मक सांस्कृतिक आधार रहा है जिस पर आर्यों के पितृसत्तात्मक संस्कृति के संघात ने वर्तमान बहुपतीत्व-प्रथा को जन्म दिया। डा० सक्सेना ऐतिहासिक प्रमाणों पर ज़ोर देते हैं जबकि डा० मजूमदार वर्तमान सांस्कृतिक प्रमाणों पर। जौनसार और बावर में नारियों के लिए प्रचलित व्यवहारिक आदर्श का दोहरा मापदण्ड, जिसका हम आगे चलकर वर्णन करेंगे डा० मजूमदार के अनुसार प्रारम्भिक मातृसत्तात्मक आधार की ओर इंगित करता है।[९]

द्रौपदी प्रथा के रूप में प्रचलित बहुपतीत्व और तद्जनित परिवार के प्रकार के अस्तित्व के अनेक कारण हैं। जैसा कि डा० मजूमदार ने कहा है यहां के प्रकार और स्वरूप में बहुपतीत्व और सम्मिलित परिवार के तत्व समाये हुए हैं। स्थानीय आर्थिक-सामाजिक संगठन की आवश्यकता है सम्मिलित परिवार, क्योंकि कृषि और पशुपालन में अधिकाधिक मानवीय श्रम की आवश्यकता पड़ती है जो सम्मिलित परिवार के द्वारा ही मिल सकता है। राजपूतों में कोल्टों की अपेक्षा अधिक बहुपतीत्व का पाया जाना हमारे मत की पुष्टि करता है क्योंकि राजपूत ही अधिकतर भूमि के स्वामी हैं और उनका मुख्य व्यवसाय हैं पशुपालन और कृषि। कोल्टों के पास कृषि योग्य भूमि नहीं है, वे केवल अपना श्रम बेचते हैं और दासों के समान रहते हैं। अतएव उनमें अपेक्षाकृत बहुपतीत्व और

सम्मिलित परिवार कम पाया जाता है।[10] दूसरी ओर इस प्रदेश में स्त्री और पुरुषों का अनुपात असन्तुलित है और पुरुषों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होती है। अतएव इस असन्तुलन ने सम्मिलित परिवार में बहुपतीत्व को स्थापित कर दिया है।

इस सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संगठन में स्त्री जीवन एक निरंतर कठोर परिश्रम का जीवन है। बहुपतीत्व उसके शारीरिक गठन पर प्रभाव डालता है और दैनिक जीवन-यापन का कठिन परिश्रम उसकी थकान को और भी बढ़ा देता है। जौनसारी नारी की दिनचर्या एक कठिन परिश्रम की दिनचर्या है। सूर्योदय से पहले उठकर दूर नाले से पानी लाना, एक बड़े परिवार के लिए रसोई का प्रबन्ध करना, खेत में जाकर पति के साथ काम करना[11], जंगल से लकड़ी लाना, कपड़े धोना, संध्या को पुनः पानी लाना और रसोई का प्रबन्ध करना, आदि, उसकी दिनचर्या में शामिल हैं। अधिकतर वृद्ध स्त्रियां रसोई और घर का काम करती हैं और तरुण स्त्रियां बाहर का काम करती हैं। जौनसारी नारी की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए केवल उपमा के लिए यह कहा जा सकता है कि उसका जीवन एक दास के समान प्रतीत होता है क्योंकि कठिन परिश्रम के साथ साथ उसे अनेक सामाजिक अयोग्यताओं को भी सहन करना पड़ता है। घर में पुरुषों का पूर्ण स्वामित्व होता है और उसके गहनों और कपड़ों पर भी पति का ताला लगा होता है। जौनसारी नारी देवताओं की पूजा नहीं कर सकती है तथा व्रत और अनुष्ठानों में भाग नहीं ले सकती है।[12] पूजापाठ और अनुष्ठान का सारा सामान पुरुष द्वारा ही तैयार किया जाता है। अपने पति के घर में वह त्यौहारों में भी सक्रिय भाग नहीं ले सकती है। ऐसी स्थिति में ससुराल का जीवन एक कठिन परिश्रम के अतिरिक्त और क्या है?

व्यवहारिक आदर्श का दोहरा मापदण्ड जौनसारी नारी को ससुराल के कठिन परिश्रम से छुटकारा दिलाता है और उसके जीवन में समय समय पर उल्लास के अवसर प्रदान करता है। यहाँ की नारी के दो पहलू हैं--राण्टी और ध्याण्टी। राण्टी जौनसारी नारी का पत्नी-रूप है। उस रूप में उसे, जैसा कि हम पहले कह आये हैं, एक कठिन परिश्रम का जीवन व्यतीत करना पड़ता है। ध्याण्टी, यहाँ की नारी का वह रूप है जो वह पिता के घर और गांव में व्यतीत करती है। ध्याण्टी के रूप में वह मां बाप की छत्रछाया में पलती है और बालिका से तरुणी और तरुणी से वृद्धा हो जाती है किन्तु इस रूप में उसके विशेषाधिकार सदैव समान रहते हैं। प्रत्येक राण्टी के साथ उसका ध्याण्टी रूप भी जुड़ा हुआ है। प्रत्येक नारी जब अपने मां बाप के घर और गांव में रहती है तो वह ध्याण्टी के रूप में रहती है। इस रूप में उसे ससुराल की कठिन दिनचर्या से छुटकारा सा मिला रहता है।[13] अपनी सहेलियों के साथ बैठना, हँसी ठट्ठा करना और गीत गाना उसकी दिनचर्या के प्रधान अंग बन जाते हैं। यही नहीं ध्याण्टी के रूप में उसका जीवन काफ़ी 'रोमान्टिक' रहता है। गाँव के तरुणों के साथ हंसना, खेलना, उनके बीच में बैठकर सिगरेट पीना, उनके साथ नाचना-गाना उसका दैनिक कार्यक्रम रहता है। त्यौहार के अवसरों पर, संध्या के झुटपुटे में, गांव के "आंगण"[14] नवयुवक और युवतियों से भरे रहते हैं। उनके सम्मिलित झुंड इधर उधर बैठे रहते हैं और उनकी हँसी के फौवारे और गीतों के स्वर गांव के शान्त वातावरण में गूंजते रहते हैं। प्रत्येक त्यौहार के अवसर पर तरुण ध्याण्टियाँ अपने माता-पिता के घर जाने के

लिए व्यग्र रहती हैं। ऐसे त्यौहार प्रायः प्रत्येक दो या तीन मास बाद आते रहते हैं। अतः समय-समय पर तरुण नारियों का स्थानान्तरण हुआ करता है।[१५]

ध्याण्टी-रूप में जौनसारी नारी के दो पहलू हैं--प्रथम, पुत्री का जिस रूप में वह अपने माता-पिता तथा गाँव के वयोवृद्ध लोगों के सामने आती है, दूसरा रूप है रोमाण्टिक प्रेमिका का, जिस रूप में वह गांव के तरुणों के सामने आती है। जौनसारी सांस्कृतिक आदर्शों के अनुसार उसे प्रेम करने की छूट भी मिली हुई है। "जोस्ती" की मान्य धारणा इस बात की पुष्टि करती हैं। "जोस्ती" प्रतीक है उस प्रेम का, जो कोई भी स्त्री अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष से करती है। "जोस्ती" यौन सम्बन्ध में भी परिणत हो जाती है, जो गाँव का सर्वविदित गुप्त भेद रहता है। जोस्ती केवल क्षणिक अथवा सामायिक प्रेम या यौन-सम्बन्ध नहीं है। वह उससे कहीं महानतर है, और उसकी महत्ता लगभग उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि पति-पत्नी के सम्बन्ध की। वह क्षणिक भावना भी नहीं है। इसीं कारण, बांह पर प्रेमी अथवा प्रेमिका का नाम गुदवाने की प्रथा है। अधिकतर देखने में आता है कि पुरुष के हाथ पर उसकी प्रेमिका का और स्त्री के हाथ पर उसके प्रेमी का नाम गुदा रहता है और बहुधा पति अथवा पत्नी का नाम नहीं होता है क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि हाथ पर गोदा हुआ नाम ही मृत्योपरान्त साथ जाता है।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि इस प्रदेश में पति-पत्नी के सम्बन्धों और वैवाहिक मर्यादाओं का सर्वथा उल्लंघन किया जाता है। राण्टी के रूप में प्रत्येक स्त्री पातिव्रत धर्म का पूर्णरूपेण पालन करती है और राण्टी से हास-परिहास करने का परिणाम बहुधा बुरा होता है। त्यौहार के अवसर पर जब किसी ध्यान्टी का पति आजाता है तो वह अपने रोमांस को पूर्णतया त्याग देती है। वह नाच और गाने में भाग लेती है पर पूर्ण गम्भीरता के साथ। प्रत्येक पुरुष अपने रूमानी जीवन में ध्याण्टी के जीवन से पूर्ण परिचित रहता है। अतएव जब उसकी राण्टी, ध्याण्टी के रूप में, मायके जाती है तो वह उसके उस रूप की ओर असजग सा रहता है क्योंकि उसके सामने ध्याण्टियों के उदाहरण रहते हैं। उसकी स्त्री भी ध्याण्टी होकर मायके गयी है और सामाजिक रूढ़ियों के अनुसार ध्याण्टी जीवन की मांग ही कुछ और है।[१६]

इस सांस्कृतिक रुमानी प्रथा का उपयोगी पहलू भी है। एक ओर जौनसारी नारी के कठिन श्रमपूर्ण जीवन में इसके द्वारा उल्लास के क्षण आते हैं; दूसरी ओर बहुपतीत्व और बड़े भाई के प्राधान्य के होते हुए भी[१७] यहाँ के पुरुष 'सेक्स-नैराश्य' से पीड़ित नहीं रहते हैं। उनके सेक्स की अभिव्यक्ति को पूर्ण अवसर मिलता है। यह निसन्देह है कि वर्तमान समय में यह प्रथा अभिशाप सिद्ध हो रही है क्योंकि इस प्रदेश में फैली हुई गुप्त रोगों की भयंकरता इसी का परिणाम है। फिर भी इस प्रथा का अस्तित्व इस प्रदेश की सामाजिक, सांस्कृतिक और मानव जीवन की प्रारम्भिक आवश्यकताओं में निहित है।

जौनसार के रूमानी लोकगीत इसी सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में पल्लवित हुए और पनपे हैं। इन गीतों में कही ध्याण्टी से उनका नाम पूछा जा रहा है, कहीं प्रेमी और प्रेमिका में हास-परिहास चल रहा है, तो कहीं प्रेमी प्रेमिका से पति छोड़कर अपनी पत्नी के रूप में आजाने का आग्रह कर रहा है, तो कहीं प्रेमी और प्रेमिका विछोह की याद कर

विह्वल हो रहे हैं। गीत का नाम या तो कल्पित प्रेमिका पर आधारित रहता है या किसी राग विशेष पर।

'बाजू' एक प्रकार के गीत को कहते हैं पर वास्तव में बाजू एक राग मात्र है जिसमें बहुधा रूमानी विषय वस्तु का ही वर्णन रहता है। राह चलता हुआ अकेला राही बहुधा बाजू की कड़ियाँ ऊँचे स्वर में गाता रहता है। कभी-कभी व्याण्टियों और नौजवानों के समूह अलग-अलग बैठ जाते हैं और बाजू की कड़ियाँ उत्तर और प्रत्युत्तर के रूप में गाया करते हैं। इसमें एक दूसर को निरुत्तर करने की स्पर्धा और प्रयास रहता है :

सुलफे की साफी।[१८]
तोता रंग रागी मैणा मन पापी ।।
गाड़ू रिंगो आवता,
तराजू में तौली देणी केकी मया भावता ।।
डाड़ी बैठो पंछी।
दिले भाऊँदी जोड़ी कै पापी ने रौंची ।।
धणिया को बीजा।
तणी मया द्वारा तसबीरा लीजा ।।
काटियो थो गदीला।
को भगवानो देलो बाजू को वजीला ।।
कोदो बैंथों रैंका।
सारू देखी दुनिया कोई न दिले लेइगा ।।
ढोले लाथी घूमा।
चारि दिना होंदी जवानी की धूमा ।।
घाघोरी घुमरा।
चारा दिना हौंदी जवानी उमरा ।।

इस गीत में पारस्परिक छींटाकशी है--"मैं तेरे अनुराग में रंगा हुआ हूँ, पर मैना ! तेरा मन पापी है--तराजू में तौल के देख ले कि किसका प्रेम अधिक है ?......न जाने किस पापी ने मेरा मन हर लिया है ?.........मेरे प्रति प्रेम है तो तसवीर बना के ले जा.........मेरे इस 'वाजू' (गीत) का उत्तर कौन देगा ?.........सारी दुनिया देखी पर मेरे दिल लायक़ कोई न दिखा.........जवानी की धूम और उमर केवल चार दिन की होती है।"

इसी प्रकार 'छपोती' में भी पारस्परिक हास-परिहास और छींटाकशी रहती है--

अणि मुणी माणी।
तेरे नित बीसा खायो, नेरंग्या को पांणी ।।
बाने को छुरि ओड़ा।
तेरे नित बीसा खायो नादाणे नरिओड़ा ।।
कपासो को घोड़ा।
कै पापी ने लिखी माया को लपोड़ा ।।

माशू दड़ी दाड़ा ।
कै तोता ने लगाई माया को जंजाड़ा ।।
ऊमड़ी काण्डोड़ी ।
ग्राधे बणे नइ गयी छोरी रोयली राण्डुरी।।
शैलू की शिराणी ।
मुखड़ी देखे न दे नयी कि पुराणी ।।
कांउणे कूटी घांणी ।
गांव पुण्डे की माया हेरी देखी लाणी ।।
बाशे जाली कायी ।
कै गांव की ध्याण्डड़ी तुम देव छपोती लायी ।।
कागेजू को ताऊ ।
तेरे गांव के रिशा लांदे में बड़ो ग्रन्याऊ ।।

"तेरे लिए मैंने नारंगी के पानी और नारियल की गिरी के समान विष खा लिया है .. किस पापी ने मेरे लिए ये माया का जंजाल लिख दिया है......किस तोता (प्रेमी) ने मेरे लिए यह प्रेम का जंजाल लगा रखा है......जंगल में आधी दूर जाकर वह बेचारी रोने लगी......अपना मुंह नहीं देखने देती, पता नहीं नई है कि पुरानी......गांव में प्रेम देख भालकर करना चाहिए..... तुम किस गांव की ध्याण्टी हो ? छपोती गा दो ..... तुम्हारे गांव के लोग (मेरे प्रेम पर) नाराज होते हैं, यह बड़ा अन्याय है ।"

'नाटी' और 'नाटी घूमड़ी' में इसी प्रकार वियोग के प्रति वेदना और प्रेमी के प्रति शिकायत रहती है

काटी खाणी कूकड़ी नतिरामा भाजी खाणी आड़ू ।
तू भी चाला परदेशो खे नतिरामा टुटड़ा बाड़ो ।।
आण्डा बोले लाटोरा शिमड़ा पाण्डा राजरा कुड़ू ।
तीशे लगे मुपाणीरी ननिरामा पिये पारमीरा चुड़ू ।।
आण्डा बोले लाटोरा शिमड़ा पण्डा राजोरा लाणा ।
तूबी चला परदेशोखे नतिरामा मेरे शंखिया खांणा ।।
फूली कौरे फूलटू नतिरामा डाड़ी फूलोली गोबी ।
खांणे पीणें रा लाड़चू नाई, तेरी जानीरा लोबी ।।
फूली कोरा फुलटू नतिरामा डाड़े फूलोली कूरी ।
तुसे चालो परदोसेखे नतिरामा जिय लाग ली बुरी ।।

"नतिराम तू तो परदेश जा रहा है पर मेरा बाला (कान का आभूषण) टूट गया है .....नतिराम मुझे प्यास लगी है चुल्लू भर पानी पिला दे .....नतिराम तू परदेश जा रहा है मैं संखिया खालूंगी........मुझे खाने पीने का लालच नहीं है, मैं तो केवल तेरी जान (जिन्दगी) की लोभी हूँ.........नतिराम तू परदेश जा रहा है दिल में मुझे बुरा लग रहा है ।"

एक अन्य नाटी (घूमड़ी) में

धारे षेखाणो दी नाटी घूमड़ी, नाटी घूमड़ी ।
बोलो भण्डारिया कोजो सुनैनू, कोजो सुनैनू, कोजो सुनैनू ।।
पारे धारां दी देबि चाटुके, देवि चाटुके ।
सुनैणू रे देखिया छाती फाटुके, छाती फाटुके, छाती फाटुके ।।
पारब खेतां दी पाचे काउंणी, पाचे काउंणी ।
सुनैणू आई गोई मेरी पांउणी, मेरी पांउणी, मेरी पांउणी ।।

"ए भण्डारी ! बोलो सुनैनू (प्रेमिका) कहाँ है ?······सुनैनू को देखकर मेरी छाती फट रही ह······सुनैनू मेरी अतिथि होकर आ गई है ।"

जंगल में भेड़ और डंगर चुगाते हुए दो ध्याण्टियों को एक भेड़ी वाला मिलता है । वे उससे पूछती हैं:

मैंस्याते बानी ले खुरुड़ी शिलू बाटेलो दाऊं ।
कासको तोले बेडालो, बोल्थासे आपेड़ा नाऊं ।।

"तू किस गाँव का बेडाला (भेड़ी वाला) है, अपना नाम बता ?"

विथालो कौले बेडालो गजुड़िया से मेरा नाऊं ।

"मैं विथाल गाँव का भेड़ी वाला हूँ । मेरा नाम 'गजुड़िया' है ।"

कसकीले तुमे ध्यान्तुड़िया बोल्यासे आपेड़ा नाऊं ।

"तुम किसकी ध्यान्ती हो अपना नाम बताओ ?"

चोंदाणों की ले ध्यान्तुड़िया, सलारी मलारी नाऊं ।

"हम चोन्दाण खान्दान की ध्यान्ती हैं, हमारा नाम 'सलारी' और 'मलारी' है ।"

दुइयां लगिली चित, कुज्ज्याते गांउलो गीते, कुंज्या भगाऊं लूं उड़ाले ।

"दोनों मुझे अच्छी लगती हैं, किसका मैं गीत गाऊं और किसको मैं भगाकर ले जाऊं ?"

सलारी गिनलो उड़ाले, मलारिया गाऊं लो गीते...... ।

"सलारी को मैं भगाकर ले जाऊंगा और मलारी के गीत गाऊंगा ।"

बरदेयी के गीत में एक नौजवान बरदेयी ध्याण्टी के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर उससे ब्याह करने की बात सोचता है:

तन्द्यायी थी तान्दा ।
काण्डे नगीरे बरी शुणी बांदा ।।
सिरे पैरी कांगी ।
बरा शुणी बांदा, ऊंडी लांउणी मांगी ।
गागोड़ी को आना ।
ऊंडी लांउणी मांगी कोइछो लागो धना ।।
बाकुरिया के काता ।
धना जाइना बोलिया हजारू की बाता ।
बोसेतू को छूमा ।
कागेजू को नोटा करि राख्यो जूमा ।

"मैंने काण्डे गाँव की वरदेयी ध्यान्टी के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनी है......उसको मांग कर लाना है।[१९]... कितना धन लगेगा ?[२०] धन का क्या कहना ? यहाँ तो हजारों की बात हैं .....पहले तू कागज़ के नोटों को पोस्ते के गुच्छे के समान जमा कर!"

'हिरमा', 'बांकी कमली', 'किरपी' और 'गंगी' जौनसार बावर के प्रसिद्ध रोमान्टिक गीत हैं। इनमें 'गंगी' और 'बांकी कमली' तो बहुत ही प्रसिद्ध हैं। 'बांकी कमली' का गीत बावर की ओर विशेषतया कथियान रेंज में बहुत गाया जाता है। इनमें वर्णित प्रेम और वियोग विदेशियों से सम्बन्धित हैं। इन गीतों की भाषा पर पंजाबी का प्रभाव स्पष्ट दिखता है। उदाहरण के लिए हिरमा में—

पातो पानरा हिरमा पातो पानरा।
पता बिन लगदा रंडे बेइमानरा।

'उस बेइमान का पता नहीं लग रहा है।'

पावा तेलरा छोरी पावा तेलरा।
बाबू बोशा मोटरदां बांया रेलदां।

'तेरे बाबू को मैंने मोटर और रेल में बैठे हुए देखा है।'

डाब काटरा छोरी डाब काठरा।
पंछी भाजा मिलदा रंडे कांडे घाटरा।

'पहाड़ के पंछी का पता नहीं लगता।'

पाको जामुणी हिरमा पाको जामुणी।
आई जाणे मुल्की रंडे दया राखणी।

'हिरमा! मैं तेरे देश आ गया हूँ मुझ पर दया रखना।'

हाथ कांगड़ी हिरमा हाथ कांगड़ी।
बुरा तेरा मालिका शूली टांगड़ी।

'तेरा मालिक (पति) इतना बुरा है कि शूली पर टांग देगा।'

हाथ गूठेड़ू हिरमा हाथ गूठेड़ू।
बुरा मेरा मालिका पुरु छूटेड़ू।

'तेरा मालिक इतना बुरा है कि तेरा गाँव छूट गया।'

हाथे चन्दुआ हिरमा हाथे चन्दुआ।
बुरा तेरा मालिका रहजा बन्धुआ।

'तेरा मालिक अच्छा नहीं है तू मायके में ही रह जा।'

फुल छिछड़ी हिरमा फुल छिछड़ी।
मेरी तेरी जोस्ती आजु बिछड़ी।

'आज मेरी तेरी दोस्ती समाप्त होगयी।'

इसी प्रकार 'गंगी' के गीत में:—

गंगिये बादामा रंगिये!

गंगी का रंग बादाम के समान है।

आटा गूंधिये पकाये फुलके।

आजु गंगी तेरे पाउंणे कल जाणा पराये मुल्के ।
हो गंगिये बदामा रंगिये ।।

गंगी ! आज मैं तेरा अतिथि हूं पर कल मुझे परदेश जाना है ।।

नदी आइयो रे तरिण जोगे ।
दिल की बीमारी रे गंगी हो गयी मरण जोगे ।
हो गंगिये बदामा रंगिये ।।

दिल की बीमारी के कारण गंगी मरणासन्न हो गयी है ।

'किरपी' के गीत में 'किरपी' और 'रामानन्द' के उत्तरों और प्रत्युत्तरों में हास-परिहास और वियोग-वेदना का वर्णन है:

चल मुये किरपीये पाणिये रे धौरे रे ।
खाया पिया औरुवे मौज मारी औरे रे । हो रंडे किरपीये ।।

किरपी ! खाया पिया किसी और ने पर मौज किसी और ने मारी ।

किरपीरे हाथों दी दंइयोरा लौटा रे ।
सुलडेब जुगती के जुग लागा खोटा रे । हो बाबू रामानन्दा ।।

रामानन्द ! युग खराब है ज़रा आहिस्ता और होशियारी से चलना ।

रेशमारा झाड़ना हारी प्यूड़ी धारी रे ।
नई हाट दी किरपीये रंडे पेटो दी बिमारी रे । हो रंडे किरपीये ।।

किरपी के पेट से बीमारी नहीं हटती ।

बाई पान्दे मदनू पूर्वोखे पांगे ।
जिऊ जिन्दड़ी तईं आगे क्या काड़जू मांगे । हो बाबू रामानन्दा ।।

रामानन्द ! जब हृदय और जीवन तुम्हें समर्पित है तब कलेजा क्यों मांगते हो ?

किरपीये पेटो दी बांईयोरे गोड़ारे ।
उब्बा नीणा शिमलोखे कीरपीरा डोरारे । हो रंडे किरपीये ।।

ऊपर शिमले की ओर किरपी का डोला गया है ।

ऊंदी बहेगी तौंसो ऊबी गाड़नी कूलो रे ।
कल दीथे धरमारे आज कैंइखे भूलो रे । हो बाबू रामानन्दा ।।

रामानन्द ! कल ही तुमने बचन दिया था, आज किस प्रकार भूल गये ?

धारे पान्दे मजनू लाई लेणी धजारे ।
शोरे न बसना पेउखे ही मजारे । हो रंडे किरपीये ।।

किरपी ! ससुराल में मत बसना क्योंकि मायके में ही मजा है ।

देवड़ो दी रामानन्दा फूकी पालो नादो रे ।
नांऊ लिखणा बांई पान्दे किरपीरे यादो रे । हो बाबू रामानन्दा ।।

रामानन्द ! किरपी की याद में बायें हाथ पर उसका नाम लिख लेना ।

आऊंणी न रामानन्दा कबी बी जुबानी रे ।
ले जाणा रामानन्दा मेरी रे निशानी रे । हो बाब रामानन्दा ।

रामानन्द ! मेरी निशानी ले जाना । ये जवानी पुनः कभी नहीं आयेगी ।

भाल बांणे कांउंणी गयूं भूने मूड़ी रे।
मेरी नीणी निशानी हाथोरिगे चूड़ी रे। हो बाबू रामानन्दा
रामानन्द ! मेरे हाथ की चूड़ी बतौर निशानी के ले जाना।

इन गीतों के लेखबद्ध करने में लेखक को अनेक लोगों से सहायता मिली है जिनका लेखक आभारी है। सर्वप्रथम लेखक कृतज्ञ है डा०डी०एन० मजूमदार का, जिनके प्रयत्नों के कारण यू० पी० इथनोग्राफ़िक और फॉककल्चर सोसाइटी ने उसे आर्थिक सहायता और गीतों को लेखबद्ध करने का अवसर प्रदान किया। ये गीत १९५३ के ग्रीष्म-अवकाश में हनोल नामक स्थान पर लेखबद्ध किये गये थे। धर्मदास, नन्दू, जयराम, शिबू, धर्नसिंह और अभिराम (चात्रा निवासी), इत्यादि व्यक्तियों के सहयोग से ये गीत लेखबद्ध हो पाये थे अतएव लेखक उनके प्रति कृतज्ञ है। यह लेख उन्हीं लोगों को समर्पित है। जिनकी कृपा, प्रोत्साहन और सहयोग से इसका जन्म सम्भव हुआ है।

१–स्टडी ऑफ सोसायटी : बार्टलेट तथा अन्य लोगों द्वारा संग्रहीत, पृ० ३२८।

२–गौरीशंकर भट्ट : समाज, जुलाई १९५६, पृ० ५७३।

३–Romance: A fictitious narrative in prose or verse which passes beyond the limits of real life.
(Chamber's Twentieth Century Dictionary)

४–राइमर: मॉडर्न सिटी (अध्याय 'अरबन फ़ेमिली')।

५–तौंस कालसी के पास यमुना में मिल जाती है। इस कारण कालसी पर बने यमुना पुल को इस प्रदेश का सिंहद्वार कहा जा सकता है।

६–द्रौपदी प्रथा–महाभारत के अनुसार द्रौपदी ने पांच सगे भाईयों से विवाह किया था। अतएव द्रौपदी प्रथा प्रतीक है उस प्रथा का जिसके अनुसार कुछ सगे भाई एक या एक से अधिक स्त्री से विवाह करें। जौनसार बाबर, टिहरी गढ़वाल और हिमाचल प्रदेश के कुछ भागों में यह प्रथा पाई जाती है। अंग्रेजी में "फ़्रेटरनल पॉलियाण्ड्री" शब्द का प्रयोग किया जाता है जिसका अर्थ है कुछ सगे या सम्बन्धित भाइयों का एक या एक से अधिक स्त्री से विवाह होने पर उत्पन्न होने वाला बहुपतीत्व। द्रौपदी प्रथा लेखक के अनुसार इस प्रकार के बहुपतीत्व का प्रतीक है। अतएव, यहां पर इसका प्रयोग 'फ़्रेटरनल पॉलियाण्ड्री' के हिन्दी पर्याय के रूप में किया गया है।

७–डी० एन० मजूमदार: दि ईस्टर्न एन्थ्रॉपॉलॉजिस्ट, वाल्यूम ८, नं० ३ और ४, पृष्ट १६४-६५।

८–रामनारायण सक्सेना: सौशल एकानमी ऑफ ए पॉलियाण्ड्रस पीपुल, पृ० ३०-३३।

९–डी० एन० मजूमदार: फारचून्स ऑफ प्रिमिटिव ट्राइब्स पृ० १४६

१०– ,, ,, : डेमाग्रेफिक स्ट्रक्चर इन ए पोलियाण्ड्रस विलेज, ईस्टर्न एन्थ्रॉपॉलॉजिस्ट, वाल्यूम ८, नं० ३ और ४, पृष्ठ १६८।

११–पुरुष अधिकतर खेत में हल चलाने का काम करता है, शेष सारा कार्य स्त्रियों के मत्थे पड़ता है।

१२–हनोल के महासू मन्दिर में स्त्री केवल एक सीमा तक ही जा सकती है जिसका उल्लंघन होने पर वह देवता के पाप की भागी होती है और उसे प्रायश्चित करना पड़ता है।

१३–वह घर के काम-काज में हाथ अवश्य बटाती है पर उतना नहीं जितना कि वह ससुराल में करती है।

१४–आंगण––प्रत्येक गांव में एक चौकोर खुली जगह होती है जिसे आंगण कहते हैं। सामूहिक रूप से त्यौहार इसी स्थान पर मनाये जाते हैं और इसी स्थान पर तरुण और तरुणियों का नाच-गाना होता रहता है।

१५–डी० एन० मजूमदार। फॉरचून्स ऑफ प्रिमिटिव ट्राइब्स, पृ० १५९-१७५।

१६–यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आजकल जौनसार बावर में सुधार आन्दोलन चल रहा है। नयी पीढ़ी के लोग इस प्रथा के विरुद्ध हो रहे हैं। एक समय था जब विदेशियों के साथ भी किसी ध्याण्टी का रोमांस स्वीकृत था। इसके अनेक उदाहरण प्रचलित लोकगीतों और किंवदन्तियों में मिलते हैं। पर आज यह सर्वथा असहनीय है। बहुधा इसके भयंकर परिणाम देखने को मिल जाते हैं। किन्तु यहाँ के निवासियों के व्यवहार से यह पूर्णतया लुप्त नहीं हो पाया है।

१७–प्राचीन प्रथा के अनुसार स्त्री पर पहला अधिकार बड़े भाई का होता है और वह बहुधा इस अधिकार का प्रयोग करता है।

१८–इस प्रदेश के गीतों में टेक का प्रयोग किया जाता है। अतएव प्रथम पंक्ति केवल टेक होती है, उसका गीत के सन्दर्भ से कोई सम्बन्ध नहीं रहता है।

१९–मांगकर लाने का अर्थ है ब्याह का प्रस्ताव करना।

२०–इस क्षेत्र में वधू-धन की प्रथा है और इसमें उसी का संकेत है।

भोजपुरी लोकगीतों से पारिवारिक संबन्धों का अध्ययन

इन्द्रदेव

ग्राम्य-जीवन में परिवार का महत्व आधुनिक मशीन-युग की सभ्यता की अपेक्षा बहुत अधिक है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि भोजपुरी[1] लोक-साहित्य में—जो कि एक समृद्ध और जीवित साहित्य है—पारिवारिक सम्बन्धों का विशद चित्रण मिलता है। पारिवारिक जीवन के अध्ययन के लिये अन्य प्रकार के भोजपुरी लोक-साहित्य की अपेक्षा लोक-गीत लोक-संस्कृति के विद्यार्थी के लिये अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। लोक-कथाओं और लोक-गाथाओं (जैसे, आल्हा, लोरिकायन, विजयमल, शोभानयका, बञ्जारा, आदि) से भी पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में कुछ जानकारी अवश्य प्राप्त होती है, किन्तु यह लोक-गीतों से मिलने वाली इस प्रकार की सामग्री की अपेक्षा मात्रा में भी कम है और उतनी विश्वसनीय भी नहीं। लोक-गीतों को साधारण स्त्री-पुरुष गाते हैं और वे प्रायः सामान्य जीवन के सम्बन्ध में होते हैं। किन्तु लोक-गाथाओं और लोक-कथाओं में राजाओं, आदि उच्च श्रेणी के लोगों के जीवन के चित्रण का अधिक प्रयत्न होता है, और स्वभावतः उनमें कल्पना का समावेश अधिक होता है। लोकोक्तियों में यद्यपि परिवार आदि के संबन्ध में बड़ी ही सारगर्भित उक्तियाँ मिल जाती हैं, किन्तु साधारणतः वे लोक-गीतों जैसे सम्पूर्ण चित्र देने में असमर्थ हैं।

सभी प्रकार के भोजपुरी लोक-गीतों में हमें पारिवारिक संबन्धों का चित्रण मिलता है। स्त्रियों के गीत पुरुषों के गीतों से संख्या में बहुत अधिक हैं। इनसे हमें विविध पारिवारिक संबन्धों के बारे में स्त्रियों का दृष्टिकोण ज्ञात होता है। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है क्योंकि परिष्कृत साहित्य अभी तक मुख्यतः पुरुषों का ही साहित्य रहा है।[2] आटा पीसते समय स्त्रियाँ जतसार के गीतों में अपना सभी दुःख दर्द सविस्तार कह डालती हैं। धान रोपते समय और खेतों में निराई करते समय वे रोपनी और सोहनी गाती हैं जिनकी कुछ कथाएँ पति-प्रेम, सतीत्व-रक्षा आदि के आदर्श उपस्थित करती हैं। संस्कारों के गीतों में, जो पुत्र-जन्म, मुण्डन, जनेऊ (यज्ञोपवीत), और विवाह आदि के अवसर पर गाये जाते हैं, पारिवारिक संबन्धों के विविध दृष्टिकोणों से लिये गये असंख्य चित्र मिलते हैं। पूजाओं और व्रतों में गाये जाने वाले लोक-गीत, जैसे छटीमाता, पिड़िया, नागपञ्चमी, शीतलामाता, आदि के गीत भी पारिवारिक संबन्धों पर बहुत प्रकाश डालते हैं। पुरुषों के गीतों जैसे बिरहा, चैता, कहरवा, कजली, फाग, आदि, से भी पारिवारिक जीवन के संबन्ध में ज्ञान प्राप्त होता है।

लोक-गीत हमें पारिवारिक संबन्धों के आदर्श के बारे में बताते हैं, किन्तु वे वास्तविकता को छिपाते नहीं। संस्कृतियों के अध्ययन करने वालों (ethnographers) के सम्मुख सदा यह समस्या रहती है कि उनके प्रज्ञापक (informants)

सामाजिक संस्थाओं और रीति-रिवाजों के वास्तविक रूप को न बता कर केवल उनका आदर्श रूप बतलाते हैं।[३] यदि किसी स्त्री से उसकी सास के प्रति उसके भावों के विषय में पूछा जावे तो वह बहुधा यही कहेगी कि वह उसका बहुत आदर करती है, किन्तु लोक-गीतों से हमें उनके संबन्धों का जो चित्र मिलता है, वह वास्तविकता से कहीं अधिक मेल खाता है। उदाहरणार्थ, एक गीत की निम्नलिखित पंक्तियों में हमें एक साथ आदर्श और वास्तविकता के दर्शन होते हैं। अन्य गीतों में भी बिदा के समय माता पुत्री को अपने नये संबन्धियों के प्रति सद्व्यवहार का उपदेश करती हुयी पाई जाती है, परन्तु इन पंक्तियों से हमें यह भी पता चलता है कि नव-वधू इन उद्देश्यों को पूर्णतया पालन करने में अपने को असमर्थ पाती है :

सास गरिअइहे बेटी ननदी गरिअइहे
सहि लीहे अँचरा पसारी ।
बाबा गरिअइहे सहीय हम लेबों,
भैया क सहलो न जासु ।
आरे भइया के जनमल भतीजा गरिअइहे,
हो उलटी के करबों जबाब ।[४]

लोक-गीत हमें सास-बहू और ननद-भावज के सर्व-विदित झगड़ों के बारे में ही नहीं बतलाते, वे परिवार के विभिन्न सदस्यों की कुछ ऐसी मनोवृत्तियों का भी सूक्ष्म चित्रण करते हैं जिन्हें हम बहुत कम जानते हैं। उदाहरण के लिये मां और बेटी के मनमुटाव भी गीतों में स्थान पा जाते हैं। कई गीतों में बिदा के समय पुत्री अपनी माँ को उलाहना देती है कि उसके साथ उसके भाई के समान प्रेमपूर्ण व्यवहार नहीं होता था। माँ उसे प्रसन्नता-पूर्वक जलपान आदि नहीं देती थी। किन्तु यह लोक-गीत यहीं चुप नहीं हो जाते। जब पुत्री विदा होकर थोड़ी दूर निकल जाती है तो उसे पश्चात्ताप होता है और वह माँ को शान्त करने के लिये अपने भाई को बीच रास्ते से ही लौटा देती है। स्नेह और ईर्षा के ऐसे सूक्ष्म चित्रण के अतिरिक्त, लोकगीत परिवार में होनेवाले छोटे-बड़े संघर्षों के कारणों पर भी अच्छा प्रकाश डालते हैं।

भोजपुरी लोक-गीतों में हम पति-पत्नी का संबन्ध अधिकतर प्रेम-पूर्ण पाते हैं। इस प्रेम की अभिव्यक्ति इन गीतों में अनेक प्रकार से होती है। एक सुन्दर सोहर (पुत्र-जन्म के समय गाये जानेवाले गीत) में एक हिरनी का पति (हिरन) मार डाला जाता है और उसकी खाल से खँजड़ी मढ़ाई जाती है। जब भी हिरनी उस खँजड़ी की आवाज सुनती है, पीड़ा से कराहती है। अनेक गीतों में हम स्त्री को अपने पति को परदेस जाने से रोकते हुये अथवा परदेस गये हुये पति की याद करते हुये पाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि गीतों में ऐसे वर्णन कविता के साधारण नायक-नायिका प्रेम के रूप में भी होते हैं, किन्तु बहुत से गीत स्पष्ट रूप से बतलाते हैं कि पत्नी अपने पति की प्रतीक्षा केवल विरहिणी—प्रेमिका होने के कारण ही नहीं करती। पति जब स्त्री को घर पर छोड़कर बहुत समय के लिये बाहर रहता है तो स्त्री को बहुधा बहुत कष्ट उठाना पड़ता है। यदि उसका पति नियमित रूप से रुपया घर नहीं भेजता तब तो उसके प्रति दुर्व्यवहार और भी बढ़ जाता है।

भोजपुरी लोक-गीतों में इस प्रकार के वर्णन बहुत आते हैं। इसका एक विशेष कारण है। भोजपुरी भाषा-भाषी क्षेत्र बहुत घनी आबादी वाला और अत्यन्त निर्धन है, अतः यहाँ लोग बहुत बड़ी संख्या में जीविका की खोज में दूर दूर जाते हैं।[५] प्रायः ये अपनी स्त्रियों को घर पर ही छोड़ जाते हैं। इस अपवासन (emigration) का प्रभाव सभी प्रकार के भोजपुरी लोक-गीतों में दिखाई देता है। पारिवारिक सम्बन्धों पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। संयुक्त परिवार में एक भाई से दूसरे अनुपस्थित भाई की स्त्री आदि के भरण-पोषण की अपेक्षा की जाती है, परन्तु ऐसी अनुपस्थितियाँ इतनी लम्बी और बहुसंख्यक हो गई हैं कि वह संयुक्त परिवार की व्यवस्था पर बहुत अधिक बोझ डालने लगी हैं। अनेक लोक-गीतों में हम देखते हैं कि परदेश गये हुये पुरुष की पत्नी का भार उठाने से उसके देवर, सास आदि अन्य कुटुम्बी इन्कार कर देते हैं। गीतों में ऐसे अवसरों पर स्त्री के देवर, जेठ आदि प्रायः यह कहते दिखलाये जाते हैं कि उन्हें स्वयं अपने बच्चों का पालन-पोषण करना है। बिहार के शाहाबाद ज़िले में गाई जाने वाली एक झूमर में एक स्त्री अपने परदेश जाते हुये पति से कहती है कि तुम परिवार के लोगों को मेरे ऊपर खर्च के लिये रुपये दिये जाना, अन्यथा वे मेरे साथ दुर्व्यवहार करेंगे :

हमको धिरज दिये जाना, बलुम जब जाना बिदेसवा जी।
सास ननद मोरी नान्हें की बैरी, उनको खरच दिये जाना,
बलमु जब जाना बिदेसवा जी।
हमको धिरज दिये जाना, बलमु जब जाना बिदेसवा जी।
जेठ जिठानी मोरी नान्हें की बैरी, उनको खरच दिये जाना,
बलमु जब जाना बिदेसवा जी।[६]

यद्यपि पति-पत्नी सम्बन्ध को लोकगीतों में बहुधा प्रेम-पूर्ण चित्रित किया गया है किन्तु उसमें पाये जाने वाले असन्तोष और कलह के वर्णन का भी उनमें अभाव नहीं है। पति-पत्नी की आयु की असमानता भी असन्तोष का कारण बनती है। वृद्ध पति की युवा पत्नी का दुःख और ग्लानि तो बहुत से गीतों में स्थान पाते ही हैं किन्तु हम स्त्रियों को अल्पायु बालक पति पाने पर भी असन्तोष प्रकट करते पाते हैं। दूसरी भावना पर आधारित गीतों में प्रायः विनोद का अंश भी रहता है किन्तु भोजपुरी क्षेत्र में कम अवस्था वाले पतियों का भी अभाव नहीं है। विवाह प्रायः छोटे-छोटे लड़के लड़कियों के हो जाते हैं और लड़की अक्सर जल्दी युवावस्था प्राप्त कर लेती है और पति के बालक होने पर खिन्न होती है। निम्नलिखित गीत भोजपुरी क्षेत्र के विभिन्न भागों में बहुत लोकप्रिय है। प्रस्तुत रूप बलिया ज़िले के ब्राह्मण परिवार में स्त्रियाँ नाच के साथ गाती हैं :

बनवारी हो, हमरा के लरिका भतार।
लरिका भतार लेके गइलों पोखरवा,
बनवारी हो लोगवा जे पूछेला,
किया तोहरे हवे साँवरी भाई रे भतिजवा
बनवारी हो, किया हवे देवरा तोहार?
नहीं हमरो हवे सखि भाई रे भतिजवा,

बनवारी हो, इ त हवे नन्हा भतार।
बनवारी हो, हमरा के लरिका भतार ॥
लरिका भतार लेके सोतलों ओसरवा,
बनवारी हो, रोवे लगले नन्हा भतार।
एक लात मरलों राम दुसर लात मरलों,
बनवारी हो, ना माने नन्हा भतार।
सासु अलारी पूछे ननद दुलारी पूछे,
बनवारी हो, के मारल बबुआ हमार ?
मरलीं त मरलीं सासु अपन बलमुआ,
बनवारी हो, ऊमें कुछ लागल बा तोहार?
बनवारी हो, हमरा के लरिका भतार।
चुप होख चुप होख नन्हा बलमुआ,
बनवारी हो, रहरी में बैठल बा हुँड़ार।
बनवारी हो, हमरा के लरिका भतार ॥[7]

लोक-गीतों में स्त्री पुरुष द्वारा किये गये अन्याय का तीव्र विरोध करती है। यहाँ तक कि वह प्रकृति के अन्याय के विरुद्ध भी आवाज़ उठाती है । वह कहती है कि पुत्र-जन्म का सारा कष्ट वही क्यों उठावे जब कि उसके लिये पति का भी उत्तरदायित्व उतना ही है—"वह गाँठ जो हमने तुमने मिलकर बाँधी थी, उसे खोलते समय मैं अकेली हूँ।" बहुत से गीतों में, प्रायः पुत्र-जन्म के समय गाये जानेवाले गीतों में, वह अपने पति को अपने कष्ट का कारण मान कर फटकारती और गाली देती हैं । उदाहरण के लिये एक सोहर की लचारी की यह पंक्तियाँ देखिये :

नव महीनवा हमरे, सालेला अरे भला सालेला हो।
अलबेलबा के, हाँरे, धोतीभरवा के, हाँ रे, पनखउवा के।
घरवा से हो निकाला, दरदिया कैसे अँगइब हो।
यही अवसर पियवा पहती में दाँते दतिअवती में लाते लतिअवती।
चटकनवन क, हाँरे, लटकनवन क, हाँरे,
फुलगेनवन क मार पियवा मरतौ हो।
दरदिया हमरे बाँटसु हो।[8]

जब बहुत दिनों बाद पति-पत्नी मिलते हैं तो पति प्रायः पत्नी की पवित्रता पर सन्देह करता है। ऐसे सन्देह को उत्पन्न करने अथवा पुष्ट करने में अक्सर पत्नी की सास-ननद का हाथ दिखाई देता है । कुछ भोजपुरी लोक-गीतों में इस सन्देह का निराकरण करने के लिये स्त्री को अग्नि आदि की परीक्षा देनी होती है । जब पत्नी निर्दोष प्रमाणित हो जाती है, तब वह बहुधा पति के साथ रहना अस्वीकार करके अपने अपमान का प्रतिकार करती है। राम द्वारा निर्वासित सीता भी बन में पुत्र होने पर नाई द्वारा अन्य सम्बन्धियों को सूचना भिजवाती हैं किन्तु राम को नहीं भिजवातीं। इस विषय से सम्बन्धित

बहुत से गीत भोजपुरी में प्रचलित हैं और कुछ में राम की भर्त्सना इतने प्रभावशाली ढंग से की गई है कि सीता के बदले राम पर ही दया आने लगती है।

जब पति एक स्त्री के घर में रहते हुए दूसरी पत्नी ले आता है तब पहली पत्नी के साथ उसका सम्बन्ध बिगड़ जाता है और दोनों सौतों में भी झगड़ा होता है। भोजपुरी गीतों में पति जब बहुत समय के बाद परदेश से (कलकत्ता का नाम इस सम्बन्ध में अनेक गीतों में आता है) घर आता है तो अक्सर अपने साथ एक और पत्नी भी लाता है। एक सोहनी (खेत निराते समय गाये जाने वाला गीत) में अपनी सौत के प्रति एक स्त्री की भावनाएँ बड़े प्रभावशाली रूप में सामने आती है। गीत की अन्तिम पक्तियाँ हैं—

एक हाथे धरबों हो सवती के झोटवा,
एक हाथे ना ए बलमू जी के जुलफी।
एक हाथे ना ए बलमू, सवती के छतिया पर,
सड़क कुटइबों लाख अइहें लाख जइहें ए बलमू।
सवती के छतिया पर ओखरी धरइबों,
कुटबों कमरिया लचकाइ ए बलमू।
सवती के छतिया एर जाँत गड़इबों,
पिसबों लहँगा फहराइ ए बलमू।[९]

माता स्वाभाविक रूप से ही अपनी सन्तान को प्रेम करती है। किन्तु भोजपुरी समाज में तो स्त्री की प्रतिष्ठा भी उसके पुत्रवती होने से ही होती है। असंख्य गीत वन्ध्या स्त्री की दशा का अत्यन्त करुणाजनक वर्णन करते हैं। पुत्र प्राप्ति के लिए स्त्रियाँ अनेक व्रत अनुष्ठान करती हैं। कार्तिक के शुक्लपक्ष की षष्ठी का व्रत भी पुत्रों के लिए ही किया जाता है। इससे सम्बन्धित गीतों में स्त्री के लिए पुत्रप्राप्ति का महत्व भली भाँति प्रतीत होता है। पुत्र की जननी बनने पर स्त्री का समाज में सम्मान होना है। किन्तु पुत्री के जन्म के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। साधारणतया पुत्री के जन्म पर गीत नहीं गाये जाते। कुछ गीतों में तो प्रसूता पुत्री के जन्म से इतनी दुःखी होती है कि वह कहती है कि यदि वह जानती कि उसके पुत्री होनेवाली है तो मिर्च पीकर गर्भ ही गिरा देती। "सतुरो के धिया जनि होइ ए" (शत्रु के भी पुत्री न हो), यह पंक्ति अनेक गीतों में मिलती है। पुत्र अथवा पुत्री को जन्म देने से स्त्री की प्रतिष्ठा में कितना अन्तर पड़ता है यह असंख्य गीतों की भाँति एक "खेलौना" की निम्नलिखित पंक्तियों से भी ज्ञात होता है।

बेटवा बिअइली पलँग चढ़ी बइठली,
हुकुम चलाव भरी घर से कोई जानेला।
बाँका नैन जड़ाव का कोई जानेला ।।
बिटिया बिअइली पीढ़ा चढ़ि बइठली,
चीत से उतरी भरी घर के कोई जानेला।
बाँका नैन जड़ाव का कोई जानेला ।।[१०]

फिर भी गीतों से मालूम होता है कि माता और पुत्र के बीच कभी-कभी वैमनस्य उत्पन्न हो ही जाता है। इसका कारण प्रायः यह होता है कि पुत्र का विवाह हो जाने

पर माता को यह प्रतीत होने लगता है कि वह अपनी ससुराल और स्त्री के प्रेम में पड़ कर माता की उपेक्षा करने लगा है। विवाह के समय की एक रस्म, कोहबर के साथ गाये जाने वाले एक गीत की यह पक्तियाँ भी इस भावना की ओर इङ्गित करती हैं:

आम खइलूँ अम्माँ अमवा के बगिया,
फूल लिहलूँ फुलवारी।
मखन-मलाई खइलीं ससुरार जी।
हाथ धनुख मुँह पान हो॥
नव महिना बबुआ एही कोखी रखलूँ हो.
कबहूँ ना कइल बड़ाई जी।
दुधवा के निखी बबुआ देवहूँ न पावल,
कइसे चीन्हल ससुरार जी?[११]

सास और बहु के झगड़ों के वर्णन से भोजपुरी लोकगीत भरे पड़े हैं। यों तो इन झगड़ों के बहुत से कारण हमें गीतों से पता चलते हैं किन्तु संघर्ष का मुख्य कारण यही प्रतीत होता है कि वह दोनों एक ही पुरुष पर, जो पहली का पुत्र और दूसरी का पति होता है, अधिकार चाहती हैं। एक विनोदपूर्ण गीत में एक स्त्री अपने बालक पति को मारती है; जब उसकी सास कहती है कि मेरे पुत्र को तूने क्यों मारा तो वह उत्तर देती है कि इस पर मेरा अधिकार है, क्योंकि तूने (माँ ने) तो इसे पर्दे के पीछे पाया था किन्तु मैंने इसे सबके सामने, ढोल बजाकर (विवाह में) प्राप्त किया है। निम्नलिखित सोहर में एक स्त्री प्रसव पीड़ा के समय अपनी सास को बुलवाती है किन्तु पुत्र-जन्म होते ही उससे फिर झगड़ा आरंभ कर देती है:

छोट होइके पीअवा तु जईहा त बड़ होइके अइइउ हो।
राजा निहुरि निहुरि गोड़वा लगीह त मइया मनाई दिह हो।
भाई तोरी बहू बेदने ब्याकुल त तोहके बोलावेली हो।
एतना बचन जब बूढ़ा सुनली, सुनही नाहीं पावेली हो।
बूढ़ा हँथवा क लीहली ठेंगुरीया त रंगमहल चले हो।
एक गोड़ दिहली ओसरव त दूसर अँगनवउ हो।
रामा तिसरे गोड़ लवली ओवरिया छटकि के बाबुल
भुइया गिरे हो।
सुतल रइली बहुआ त ताकैली अँखियाँ गुड़ेरेली हो।
सासु पनवाँ कलेऊ आज छुअबु त धइके खपसी देबों झोटा
झोटीआई देबों हो।[१२]

इसी प्रकार ननद और भावज के झगड़ों का विशद वर्णन हमें गीतों में मिलता है। विवाह के गीतों में हम बहुधा देखते हैं कि भावज अपनी ननद से छुटकारा पाना चाहती है। लड़की की विदा के समय उसके अन्य सब सम्बन्धी, माता-पिता भाई आदि रोते हैं किन्तु भावज की आँखों में आँसू भी नहीं आते। वास्तविक जीवन में विदा के समय भावज भी रोती है और ननद से बिछुड़ने के लिये शोक प्रकाश करती है; किन्तु गीतों में ऐसे

स्थलों का बार बार आना यह बतलाता है कि भावज के रोने धोने में दिखावे का भी अंश रहता है। गीतों में भावज चाहती है कि ननद का दूर देश में विवाह हो जिससे उसका इस घर में आना जाना भी कम हो। यहाँ भी गीत गुप्त भावनाओं को प्रकाश में लाते हैं। अनेक प्रसङ्गों में हम पाते हैं कि व्यक्ति वास्तविक जीवन में जिन भावनाओं को व्यक्त नहीं करता उन्हें गीतों में स्पष्ट रूप से प्रकट करता है।[१३]

एक प्रकार के सम्बन्धियों का परस्पर व्यवहार और भावनाएँ सदा एक ही सी नहीं होतीं। प्रत्येक भाई बहन में बराबर प्रेम नहीं होता और न प्रत्येक सास-बहू और ननद-भावज में बराबर वैमनस्य। गीतों में इस प्रकार के वर्णनों के रूढ़ हो जाने की सम्भावना रहती है। फिर भी भोजपुरी लोक-गीतों में हमें इस विभिन्नता का भी चित्रण मिलता है। विभिन्न परिस्थितियों से सम्बन्धियों के पारस्परिक व्यवहार में जो अन्तर पड़ता है वह भी ये गीत दिखाते हैं। एक गीत में तो स्पष्ट रूप से यह दिखाया गया है कि एक सम्पन्न बहन का उसके भाई के घर आदर होता है और दूसरी का, जो निर्धन है, तिरस्कार किया जाता है। इसके अतिरिक्त लोक-गीतों में प्रत्येक सम्बन्ध के हमें अनेक प्रकार के चित्र मिलते हैं। उदाहरण के लिये, भावज और देवर का सम्बन्ध गीतों में प्रायः मज़ाक का (joking relationship) चित्रित किया जाता है, किन्तु ऐसे भी गीत मिलते हैं जिनमें पैसे आदि के कारण देवर और भावज में कलह होती है।

लोक-सस्कृति के विद्यार्थी के लिये लोकगीतों में पारिवारिक सम्बन्धों पर मिलनेवाली सामग्री वहुत अधिक है। इस लेख में तो उसके केवल कुछ अंश ही उपस्थित किये गये हैं।

१–भोजपुरी पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के प्रायः ढाई करोड़ निवासियों की मातृभाषा है। यह उत्तर प्रदेश में बलिया, गाज़ीपुर, देवरिया, गोरखपुर, आज़मगढ़, बनारस जिलों में और मिर्ज़ापुर, जौनपुर और बस्ती जिलों के कुछ भागों में बोली जाती है। बिहार में यह शाहाबाद, सारन, चम्पारन, राँची तथा पलामू में और मुज़फ़्फ़रपुर ज़िले के पश्चिमोत्तर भाग में बोली जाती है।

२–परिष्कृत साहित्य में स्त्रियों और निम्न वर्गों को अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने का अवसर प्रायः किसी देश में नहीं मिला है। उदाहरण के लिये देखिये, Max Lerner and Edwin Mims (Jr.), 'Literature", Encylopaedia of Social Sciences, भाग ९ पृ० ५२५-५२६; और Rene Wellek and Austin Warren, Theory of Literature, London, 1949, पृ०९१।

३–मैलीनॉस्की लिखते हैं, "When the native is asked what he would do in such and such a case, he answers what he *should* do; he lays down the pattern of best possible conduct. ...... His sentiments, his propensities, his bias, his indulgences as well as tolerance of others' lapses, he reserves for his behav-

iour in real life." (B. Malinowski, Crime and Custom in Savage Society, London, 1947 ed., पृष्ठ १२०)

४–गोरखपुर जिले के गगहा ग्राम की राजपूत स्त्रियों से लेखक द्वारा सन् १६५५ में संग्रहीत।

५–भोजपुरी भाषा-भाषी क्षेत्र की निर्धनता, जनसंख्या के घनत्व और अपवासन के आकड़ों के लिये देखिये :--

Census of India 1951, Vol. II, Part. I B, पृ० ७; Vol. I, Part I-A, पृ० १३, ६५, ६७, ६९, ६२, १२०, १२२, १३२; Census of India, 1931, United Provinces of Agra and Oudh, Part I, पृ० २१६, २०७, ९७; Vol. 18, Part I, पृ० १०३, ९९; Report of the United Provinces Provincial Banking Enquiry Committee, 1929-30, पृ० ३०; Report of the United Provinces Zamindari Abolition Committee, 1948, Vol. I, पृ० २४।

६–शाहाबाद जिले के औरइया ग्राम (पो० फ़खराबाद) की राजपूत स्त्रियों से लेखक द्वारा १६५४ में संग्रहीत इस गीत की भाषा शुद्ध भोजपुरी नहीं है, किन्तु भोजपुरी क्षेत्र में मौखिक रूप से प्रचलित होने के कारण यह हमारे काम के लिये अन्य भोजपुरी लोक-गीतों की भाँति उपयोगी है।

७–बलिया जिले के हुलास-छपरा ग्राम की एक ब्राह्मण स्त्री से लेखक द्वारा १६५५ में संग्रहीत।

८–शाहाबाद जिले के औरइया ग्राम (पो० फ़खराबाद) की राजपूत स्त्रियों से लेखक द्वारा १६५४ में संग्रहीत।

९–बलिया जिले के हुलास-छपरा ग्राम की चमार स्त्रियों से १६५३ में संग्रहीत।

१०––शाहाबाद जिले के औरइया ग्राम (पो० फ़खराबाद) की राजपूत स्त्रियों से लेखक द्वारा १६५४ में संग्रहीत।

११––बलिया जिले के हुलास-छपरा ग्राम की एक ब्राह्मण स्त्री से लेखक द्वारा १६५५ म संग्रहीत।

१२––शाहाबाद जिले के औरइया ग्राम (पो० फ़खराबाद) की राजपूत स्त्रियों से लेखक द्वारा १६५४ में संग्रहीत।

१३– यह लोक-संस्कृति के विद्यार्थी के लिये एक महत्वपूर्ण तथ्य है। केवल वाह्य व्यवहार के निरीक्षण से लोक-जीवन का संपूर्ण ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। लुण्डबर्ग ने कहा है:"overt actions are frequently designed to distort or conceal private, covert attitudes quite as fully as public verbal behaviour sometimes conceals private attitudes." (George A. Lundberg, Social Research: A Study in Methods of Getting Data, Longman, 1949, पृ० २१८)

भोजपुरी लोकगीतों में स्त्रियों के परिधान

गणेश चौबे

किसी देश के लोकसाहित्य की तुलना एक दर्पण से की जा सकती है, जिसमें उस देश के सामान्य जन के लौकिक कार्यकलाप, सामाजिक भावनाएँ एवं सांस्कृतिक गति-विधि प्रतिविम्बित हैं। लोककथाओं में तो हम मानव जीवन से दुराव पाते हैं, पर लोकगीत जीवन की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। लोकगीतों में हमें अनेक विगत वार्ताओं, प्रथाओं और प्रसंगों के अवशेष मिलते हैं, जिनके सम्यक् अध्ययन से हमारे सांस्कृतिक इतिहास के प्रणयन में किञ्चित् सहायता मिल सकती है। इसी दृष्टि से भोजपुरी लोकगीतों में स्त्रियों के वस्त्र-परिधान पर एक अध्ययन उपस्थित किया जा रहा है, जो लोकसंस्कृति के विद्यार्थियों के लिए रोचक सिद्ध होगा।

चूनरी

भोजपुरी लोकगीतों में स्त्रियों द्वारा व्यवहृत होने वाले वस्त्रों में चूनरी (चूदंरी, चूनड़ी) की भूरिशः चर्चा है। कन्या का विवाह होने जा रहा है और चांदनी रात में उसकी चूनरी झलक रही है।[1] जब द्विरागमन का समय आता है तो विदा होने वाली कन्याओं के लिए घर-घर चूनरी रंगी जाती है।[2] पति अपनी पत्नी के चूनरी लाने के आग्रह को अस्वीकार कर देता है क्योंकि वह काले रंग की है और पुत्रहीना भी है।[3] पुत्र जन्म के अवसर पर ननद अपनी भावज से चूनरी न्यौछावर मांगती है।[4] रानी उस डोमिन को चूनरी पहनाती है, जिसके व्यंग्य बाणों से व्यथित होकर उसने सूर्य की पूजा की और पुत्रवती हुई।[5] देवर के प्रेम प्रस्ताव को भावज तब तक स्वीकार नहीं करती है, जब तक वह उसके लिए चूनरी रंगा कर नहीं लाता है।[6] अपने सोए हुए पति को छोड़कर एक डोम के साथ भाग जाने वाली रानी को लाल चूनरी उतार कर रख देनी पड़ती है और लूगरी पहन कर सुअर चराना पड़ता है।[7] इस प्रकार भोजपुरी लोकगीतों में अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं जहाँ चूनरी की चर्चा है।

चूनरी की चर्चा भोजपुरी लोकगीतों तक ही सीमित नहीं है। उत्तर भारत की सभी जनपदीय भाषाओं——गुजराती, राजस्थानी, मालवी और निमाड़ी——के लोक-गीतों में चूनरी की बार-बार चर्चा है। मैथिली लोक-गीतों में हलदी कहती है कि मैं देवकी की चूनरी अपने सहज रंग में रंगूँगी।[8] निमाड़ एवं मालवा की बहनें अपने भाइयों से चूनरी लाने का आग्रह करती हैं।[9] गुजराती लोकगीतों की चूनरी ने मेघाणीजी को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने गुजराती लग्न गीतों के संग्रह का नाम 'चुंदड़ी' रख दिया। उसी ग्रंथ के एक स्थान पर हम पार्वती को चूनरी ओढ़ी हुई पाते हैं।[10] राजस्थान की प्रेयसी अपने परदेश

जाते प्रियतम से कहती है कि यदि विदा होवो तो 'चूनडी' ओढ़ू और रहो तो दक्षिणी चीर।[११] ब्रज के वैश्यों में कन्या के लिए लाल 'चुँदरी' में झबिया (घुँघरू) लगाया जाता है।[१२] इन उद्धरणों से हम अनुमान लगा सकते हैं कि भारतीय लोकजीवन में इस राष्ट्रीय परिधान को कितना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

नामकरण का कारण

लोकगीतों में वर्णित चूनरी के विभिन्न भेदों को उपस्थित करने के पूर्व भोजपुरी भाषी क्षेत्र---काशी जनपद में प्रचलित चूनरी संबंधी कुछ तथ्यों को उपस्थित करना अप्रासंगिक न होगा। लोक-गीतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में सभी जातियों में, चाहे वे छोटी हों या बड़ी---चूनरी समान रूप से प्रचलित थी। यहाँ तक कि हम सीता और पार्वती को भी चूनरी पहने हुई पाते हैं। पर इस समय चूनरी का व्यवहार केवल छोटी जाति की स्त्रियों तक ही सीमित है। सम्प्रति, लाल, काले एवं नीले, इन्हीं तीनों रंगों की चूनरी देखने को मिलती है। हिन्दू स्त्रियाँ मुख्यतः लाल रंग की और कभी-कभी काले रंग की भी चूनरी पहनती हैं। नीले रंग की चूनरी मुसलमानों की स्त्रियाँ ही पहनती हैं। चूनरी की रंगाई में रंगरेज़ को श्रम करना पड़ता है, अतः उसकी मज़दूरी साधारण वस्त्रों की रंगाई की मज़दूरी की प्रायः दस गुनी होती है। रंगरेज़ सादे वस्त्र को तागे से बांध-बांध कर उस पर पुरइन (कमल-पत्र), डगरा (वृत), डमरू की आकृति, अरघौती (सं० अर्घपात्र), बेल-बूटे, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि बनाता है। इसमें अंचल पर बनी आकृति पीठ पर की बनी आकृति से कुछ भिन्न होती है। पश्चात् उसे काले, लाल, नीले या अन्य रंग के घोल में डुबा दिया जाता है और सूखने पर तागा का बंधन खोल दिया जाता है। ऐसा भी होता है कि चूनरी का ऊपर वाला भाग तो एक रंग में रंगा रहता है और नीचे वाला भाग किसी दूसरे ही रंग में। तागे से बांध कर--चुनकर--रंगे जाने के कारण ही ऐसे वस्त्रों का नाम चूनरी पड़ा है।[१३] बांध कर रंगे जानेवाले वस्त्र गुजरात और राजस्थान में 'बांधनू' कहे जाते हैं। उन प्रदेशों में चूनरी मुख्यतः ओढ़नी के रूप में व्यवहृत होती है और काशी जनपद में साड़ी के रूप में।[१४] उन्नीसवीं सदी के अंतिम चरण में चूनरी विहार में भी ओढ़ी जाती थी और उसके दो नाम थे, चूनरी और झिमकी।[१५] वस्तुतः जिस वस्त्र पर बड़े-बड़े बूटे रहते हैं, वह चूनरी और जिस पर छोटे-छोटे बूटे रहते हैं, वह झिमकी कहलाती है। हर्ष चरित में चूनरी जैसे वस्त्र का उल्लेख है और उसे 'पुलक बंध' कहते थे।[१६]

चूनरी के विभिन्न प्रकार

भोजपुरी लोक-गीतों में बूटे या रंग-भेद के कारण हमें निम्न प्रकार की चूनरी का वर्णन मिलता है:

छापा-छींट की चूनरी--छपाई द्वारा वस्त्रों पर बनायी गयी छींटों-बूटों वाली चूनरी। दिव्यावदान से ज्ञात है कि उस युग में सिंधु, गुजरात, कोंकन के छपे हुए छींट के कपड़े और छपे हुए या काढ़े हुए वस्त्र भली भांति प्रयोग में लाये जाते थे।[१७] चंपारन की स्त्रियों में प्रचलित एक झूमर में छापा-छींट की चूनरी का वर्णन है। गीत रोचक है और सामाजिक अध्ययन की दृष्टि से महत्वपूर्ण भी। अतः सम्पूर्ण गीत नीचे दिया जाता है:

हर जोति अइले देवरू कोदार पारि अइले ।
से चलि भइले ना, देवरू भउजी सेजरिआ हो ॥१॥
उठ उठ भउजी हे हमरी बचनिआ ।
से देहु भउजी ना, जलदी से सुरहिश्रा हो ॥२॥
हम नाहीं उठबो देवरू तोहरी बचनिआ ।
से रङ्गाइ लाव ना, छापा-छीट के चुनरिआ हो ॥३॥
उहवाँ से चलले देवर साहेबगंज[१८] बजरिआ ।
से खोजे लगले ना, रङ्गरेज के दोकनिआ हो ॥४॥
कहाँ गइले किआ भइले भइआ रङ्गरेजवा ।
से रंगि देहु ना छापा-छीट के चुनरिआ हो ॥५॥
कवन रङ्गे हवे भइआ तोरो भउजइआ ।
से कवने रङ्गे ना, छापा-छीट के चुनरिश्रा हो ॥६॥
साँवर रङ्ग मोरा बाड़ी भउजइआ ।
से सबुज रङ्ग ना, छापा-छीट के चुनरिआ हो ॥७॥
उहवाँ से अइले देवरू गइलन सेजिअवा ।
से रङ्गाइ लइनी ना, छापा-छीट के चुनरिआ हो ॥८॥
भूख तोरा लगिहें देवरू लड्डुआ कीनि खिश्रइबो ।
से पिअसवा लगिहें ना, देबरू पनिश्रा तोहे पिअइबो हो ॥९॥
जाड़ तोरा लगिहें देवरू श्रँचरा ओढ़इबो ।
से गरमिश्रा छुटिहें ना, देवरू बेनिआ डोलइबो हो ॥१०॥ (चंपारन)

रसबून की चूनरी--बून (हिन्दी बूंद) । रसीले बूँदों या छींटो वाली चूनरी । ठीक उपर्युक्त भाव के एक गीत में इसकी चर्चा है । वस्त्रों पर किस प्रकार की छींटे, बूँदें या बेल-बूटे बनते थे, इसका स्पष्ट पता हमें लोकगीतों से नहीं चलता ।

कामदानी बूटे की चूनरी--एक गीत में जामदानी शब्द आया है, जो कामदानी का अपभ्रष्ट रूप है । कामदानी का अर्थ है तार या सलमे-सितारों से बने बेल-बूटे । इस प्रकार के वस्त्रों के लिये सदा से बनारस प्रसिद्ध रहा है । गीत में लाल रंग की चूनरी पर 'जमादानी वुदिया' की चर्चा है ।

एनर चूनर--सारन जिले के एक लग्न-गीत में कन्या वर को अपनी भावज की पहचान बतलाती है:

जिनकहि सोभेला एनर चूनर, पिश्रर सोभेला ओहार हे ।
जिनकहि नाके बेसर भला सोभेला, उहे हई भउजी हमार हे ॥

परन्तु एनर चूनर किस रँग का होता था तथा उसकी क्या विशेषता थी, यह कहना कठिन है ।

अवध रंग चूनर--अयोध्या की रंगी चूनरी । कोई आसन्न-प्रसवा स्त्री धगरिन (धाय) से वादा करती है :

'जाहु घरे बबुआ जलमिहैं, दुनो कान सोना देबो ।
धगरिन, जाहु घरे लक्ष्मी जलमिहैं, अवध रङ्ग चूनर हे ।।'

(चंपारन)

गुलाब फूल में रंगी चूनरी––चूनरी संबंधी एक सोहर नीचे दिया जाता है, जिसमें गुलाब के फूल से चूनरी के रंगने की चर्चा है :

"कवने बने उपजेला नरिअर, कवन बने नवरङ्ग ए ।
आरे, कवने बने उपजे गुलाब फूल, चूनरी रङ्गाइबि ।।
बाबा बने उपिजेला नरिअर, भइआ बने नवरङ्ग ए ।
आरे, सँइआ बने उपजे गुलाब फूल, चूनरी रङ्गाइबि ।।
के मोरा रंगिहें चुनरिआ, त केंइएँ चुनिआइब ए ।
आरे, के मोरा खोंपवा[१९] सँवरिहें, चुनरिआ मोरा सोभेला ।।
सासु मोरा रंगिहें चुनरिआ, ननद चुनिआइबि ए ।
आरे, गोतिन मोरा खोंपवा सँवरिहें, चुनरिआ मोरा सोभेला ।।"

(देवरिया जिला)

कुसुम रंग चूनरी––कुसुम के फूल से निकाले गये रंग से रंगी चूनरी । 'ऋतु संहार' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्त्रियाँ वसंत में कुसुम्भी रंग की साड़ी तथा लाल रंग का स्तन-पट्ट काम में लाती थीं ।[२०] लोकगीतों की कोई विरहणी कहती है :

"सुनिले कन्हइआ हमरो जोगी भइले, हमहु जोगिन होइ जाँव ।
जनि कोई बोअहुँ रे कुसुमिआ, जनि कोई बोअहुँ रे कपास ।
हम ना रंगइबो लाली चुनरिआ, पिआ बिनु सएरा अन्हार ।।"

(चंपारन जिला)

भोजपुरी लोकगीतों में कुसुम की चूनरी की भूरिशः चर्चा है, जिससे यह ज्ञात होता है कि यह कभी बहुत ही लोकप्रिय रही होगी । सत्रहवीं सदी के हिन्दी कवि बिहारी द्वारा वर्णित गौराङ्गी नायिका जब कुसुम रंग की लाल चूनरी पहनती है तो उसके शरीर की कान्ति दुरंगी हो जाती है :

"सोन जुही सी जगमगी, अँग-अँग जोबन जोति ।
सुरंग कुसुंभी चूनरी, दुरंग देह दुति होत ।।"

लाल चूनरी––कुसुम रंग की लाल चूनरी के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से भी लाल चूनरी की चर्चा लोकगीतों में पायी जाती है । शिष्ट साहित्य में मजीठ में रंगे लाल वस्त्रों का उल्लेख मिलता है । पंजाबी गीतों में भी मजीठ में रंगे वस्त्रों की चर्चा है,[२१] पर भोजपुरी लोकगीतों में नहीं ।

सोबरन चूनरी––(सं० सुवर्ण) सुनहले रंग की चूनरी । पूर्व देश में व्यापार करने वाला एक व्यक्ति अपनी पत्नी के लिये "सोबरन चुनरिआ' लाने का आश्वासन देता है, ऐसा हमें एक गीत से पता चलता है ।

नील रंग की चूनरी––होली के अवसर पर गाये जाने वाले एक झूमर में नील रंग की चूनरी रंगाने की चर्चा इस रूप में मिलती है :

"मोर पछुअरवा नील रङ खेतवा, मोर बलमुआ हो।
नील रङ्ग चूनरी रंगाव।
चूनरी पहिरत जाड़ मोरा लागले बलमुआ हो।
सालवा दोसालवा ओढ़ाव॥" **(मुजफ्फरपुर जिला)**

इस गीत से यह पता चलता है कि पहले नील रंग की चूनरी का प्रचलन था। बिहारी ने नीली साड़ी पहनकर अभिसार के लिये अँधेरी रात में जाने वाली नायिका का वर्णन किया है —

निसि अँधियारी नील पटु, पहिरि चली पिय गेह।
कहौ दुराई क्यों दुरै, दीपसिखा सी देह॥

संभवतः मुसलमानों द्वारा व्यवहृत होने के कारण हिन्दुओं ने इसका व्यवहार छोड़ दिया है।

काली चूनरी—होली के एक दूसरे झूमर में काले रंग की चूनरी की चर्चा है। बिहारी ने भी अपने एक दोहे में नायिका की काली चूनरी की तुलना तारों से भरे आकाश से तथा उसके मुखड़े की तुलना चंद्रमा से की है

'चूनरी स्याम सतार नभ, मुंह ससि की उनहारि।'

पान के पीक में रंगी चूनरी—एक गीत में प्रियतम द्वारा फेंकी गयी पान की पीक में चूनरी के रंगे जाने का उल्लेख मिलता है। पान के रस में तो वस्त्र रंगे जाते हैं, पर यहाँ प्रियतम के प्रति प्रगाढ़ अनुराग व्यक्त करने के लिये ही पीक में चूनरी रंगने की चर्चा है।

कच्चे आम के रस में रंगी चूनरी—एक झूमर में कच्चे आम के रस में चूनरी रंगाने का वर्णन है। वह झूमर इस प्रकार है :

"काँचहि अमवा कचाहिन[22] लागेला
गरले बहुत रस होला, अकेला ए बलमू।
ओही गे रसवा में चूनही रंगवलों
चूनरी भइले टहकार,[23] अकेला ए बलमू।
चूनरी पहिरि गोरी चलली बजरिआ,
केहु ना चिन्हेला लरकोर,[24] अकेला ए बलमू।
घोड़वा चढ़ल अइले लहुरा देवरवा
उहे त चिन्हेला लरकोर, अकेला ए बलमू।"

वस्तुतः आम के रस में चूनरी रंगी नहीं जाती है। उसे हल्दी में डालते हैं और वह भी इसलिये कि उससे हल्दी का रंग खुल जाय।

नीबू और मूरेन के रस में रंगी चूनरी—लोकगीतों में वर्णन आया है कि नीबू के रस में चूनरी रंगी गयी और वह लहरदार हुई। ठीक इसी भाव का एक और गीत है जिसमें मूरेन में चूनरी रंगने की चर्चा है। आम की ही भांति नीबू का रस हल्दी का रंग खुलने के लिये डाला जाता है। जहां तक मूरेन का प्रश्न है, यह एक प्रकार की घास होती है, जो धान के खेत में उपजती है। लोकगीत में वर्णित मूरेन घास नहीं है, वह पेड़ है, जिसमें रसदार फल लगता है।

सब्जी रंग में रंगी चूनरी––एक गीत में सबुजी (सब्जी) के रस में चूनरी रंगने का वर्णन है। लोकगीत में यह गीत इस प्रकार है :

"मोरा पछुअरवा सबुजिया के गछिआ
ठोपे ठोपे चुए रे सबुजिआ।
ओही सबुजिआ में चूनरी रंगवलो
चूनरी भइले लहरदरवा।
चूनरी पहिरि हम चललो बजरिआ
देवरा भारले रे नजरिआ।"[२५]

इस प्रकार विभिन्न रंगों में चूनरी के रंगे जाने का उल्लेख लोकगीतों में पाया जाता है।

चीर

भोजपुरी लोक-गीतों में चीर साड़ी का पर्यायवाची शब्द है। जायसी ने भी चीर का व्यवहार साड़ी के ही अर्थ में किया है।[२६] उन्होंने अनेक स्थलों पर चंदनचीर की भी चर्चा की है जिसका अर्थ है चंदन के रंग की साड़ी। 'आईन' की सूची में चीर संज्ञक वस्त्र का उल्लेख सोने के काम किये हुये कपड़ों में आया है।[२७]

रेसम का चीर––एक दोहरे में रेशम के चीर की चर्चा है। कोई राजकुमार अपनी प्रेयसी के रूप का वर्णन करता हुआ उससे कहता है :

"कड़े की चोली रेसम के चीर, छतिआ है कचनीर।[२८]
एके नगर में रहलू गोरिआ, डह-डहको सरीर॥"

प्रेयसी उत्तर देती है :

"कब तूँ कहल, कब हम कहनी 'नाहीं'।
गाँव का पछिम पोखर है, पीपर है सहदानी।
तूँ अइह हरिन सिकरिए, हम भरे आएब पानी।"

(चंपारन)

दखिनी चीर––उत्तरी भारत की प्रायः सभी भाषाओं के लोकगीतों में दखिनी चीर की चर्चा है। एक भोजपुरी लोकगीत में भावज अपनी ननद से पूछती है कि आप दखिनी चीर पहिनेंगी या रातुल।[२९] दखिनी चीर से तात्पर्य दक्षिण भारत की बनी साड़ियों से है। आज भी दक्षिण भारत के बंगलोर आदि स्थानों में सुन्दर साड़ियाँ बनती हैं।

रातुल चीर––रातुल संभवतः पद्मावत के सुरंग चीर के अर्थ में आया है। सुरंग चीर की पहचान डाक्टर अग्रवाल ने मुसलीपत्तन के छपे वस्त्रों से की है।[३०] दिव्यावदान एवं ललित-विस्तर में लिखा है कि दक्षिण भारत की स्त्रियाँ लाल रंग वाले रेशम के वस्त्र पहनती थीं।[३१] रातुल का अर्थ लाल है। अतः रातुल चीर का भाव लाल साड़ी से है जिसे पहिनना सधवा स्त्रियाँ अपने सौभाग्य का सूचक समझती है।

चँवर

यह संस्कृत चीवर का अपभ्रंश है। प्राचीन साहित्य में चीवर संन्यासियों के वस्त्र

के लिये आया है, पर एक लोकगीत में यह स्त्रियों के वस्त्र के अर्थ में प्रयुक्त है, यथा, "चीर-चँवर झहरावत जइसे रुकमिनी आवे।"

केंचुआ

केंचुआ शब्द संस्कृत के कंचुक का अपभ्रंश है, जिसका अर्थ चोली होता है। पर भोजपुरी लोकगीतों में यह किसी विशेष प्रकार के वस्त्र के अर्थ में आया है। केंचुआ किस प्रकार का वस्त्र था, इसका हमें ठीक-ठीक पता नहीं चलता है। संभवतः यह एक प्रकार का रेशमी वस्त्र था, जो विवाह या पूजा के अवसर पर पहना जाता था। शाहाबाद के एक लग्न गीत में हम कन्या को बरात आने के समय केंचुआ पहने पाते हैं।[३२] इसी प्रकार चंपारन में प्रचलित एक पथरे में देवी का एक सेवक केंचुआ पहन कर पूजा के लिए जाता है।[३३] मैथिली लोकगीत में भी केंचुआ शब्द आया है। पुत्री अपने पिता से लाल रंग का केंचुआ लाने के लिए आग्रह करती है और वह अपनी निर्धनता के कारण लाने से इनकार करता है।[३४] अनुमान किया जाता है कि केंचुआ एक प्रकार का महीन एवं रंगीन रेशमी वस्त्र रहा होगा।

पाट-पीताम्बर

पाट-पीताम्बर से तात्पर्य पीले रंग के रेशम के वस्त्र से है। इसका व्यवहार स्त्री और पुरुष दोनों समान रूप से करते थे, ऐसा लोकगीतों से व्यक्त है। यह पहनने,[३५] ओढ़ने[३६] और बिछाने[३७] के काम आता था। शिष्ट साहित्य में पीताम्बर की भूरिशः चर्चा है।[३८] यह राम और कृष्ण का मुख्य परिधान था।[३९]

साड़ी

साड़ी (सं० साटिका, भोजपुरी सारी) पुरातन काल से ही भारतीय महिलाओं का यह प्रमुख परिधान रहा है। अतः हम भोजपुरी लोकगीतों में विभिन्न प्रकार की एवं विभिन्न रंगों की साड़ियों की चर्चा पाते हैं।

चित्रसारी--हमारे देश में साड़ियों को चित्रित करने की परंपरा प्राचीन है। हर्ष-चरित से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ कभी-कभी ऐसी मलमली साड़ियाँ पहनती थीं जिन पर नाना प्रकार के फूल और चिड़ियों के नकशे बने होते थे।[४०] कालिदास के ग्रंथों से जान पड़ता है कि वधुओं के दुकूल-पट्ट के आँचल में हंस के जोड़े वनाये जाते थे और चित्र देख कर वर-वधू के संबंध ठीक किये जाते थे।[४१] जायसी के पदमावत में भी 'चित्र-चितेरी' साड़ी का उल्लेख है (सातहुँ रंग जो चित्र-चितेरी)। चंपारन जिले में लड़कियाँ चकवा चराते समय एक गीत गाती हैं, जिसका संबंधित अंश इस प्रकार है:

'माई सामा खेले गइलों चकवा भइया का आँगना।
माई गोखुला के काँटावा लबधि गइले रे सरिआ।
माई छोड़ू छोड़ू काँटावा फाटाले चित्रसरिआ॥'

झीना सारी--उपर्युक्त गीत के ठीक समान भाव के एक झिझिया के गीत में **'झीना सारी'** की चर्चा है। एक बिलौकी की गारी में भी झिनवा सारी का वर्णन मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि उसके पहनने पर अंग-प्रत्यंग नजर आते थे।

झिलमिल सारी--झिलमिल का अर्थ है वढ़िया मलमल की तरह का बारीक और मुलायम कपड़ा। यह जायसी के पद्मावत् में भी आया है, जिसकी पहिचान के सिलसिले में

डा० अग्रवाल ने लिखा है कि चकत्तावंश-प्रकाश की वस्त्र-सूची में तथा और भी पुरानी सूचियों में झिलमिल वस्त्र का नाम आता है।[४२]

भोजपुरी के एक मिसिए (मर्शिया) में झिलमिल सारी की चर्चा निम्नाङ्कित शब्दों में है:

'बाबा लइहें झिलमिल सारी, भइया लइहें कङ्गना रे।
सँइआ लइहें सिर के सेनुरवा रे हाय।'

साड़ियों में हम हरे, गुलाबी, लाल, नीला एवं कुसुम रंग की साड़ी का वर्णन पाते हैं। नील रंग की साड़ियों की किनारी 'जरद' (जर्द) रंग की होती थी। पुरी के तीर्थ-यात्रियों के गीत में हम 'परम सुन्दरी' बंगाली कन्याओं का वर्णन पाते हैं, जो सोलह गज की 'जरद' किनारी वाली साड़ियाँ पहनती थीं। संभवतः यह ढाके के बारीक मलमल की बनी होती थीं। साड़ियों के अंचल में मोती गूंथने का भी वर्णन आया है। अंचल को लेकर लोक-गीतों में बड़े ही अनूठे और रोचक प्रसंग आये हैं, जिन पर किसी स्वतन्त्र लेख में विचार किया जा सकता है।

धोती––(सं० धौत) भोजपुरी लोकगीतों में धोती मुख्यतः स्त्रियों के और कहीं-कहीं पुरुषों के परिधान के अर्थ में आयी है। गंगा की मनौती में धोती चढ़ाने की चर्चा इस प्रकार है:

"राजा चढ़ाये गंगा जी लाल धोती, रानी पिअर धोती हे।
गंगा जी, मलहा चढ़ावे जोड़ी हंस, न गंगा के सरन धरिले।" (च०)

एक दूसरे गीत में खद्दर की धोती और बनारसी धोती की भी चर्चा है। बनारसी धोती से संभवतः बनारस की बनी सादी रेशमी साड़ियों से तात्पर्य है।

सारन के एक बिरहे में 'सुगापंखी' रंग में धोती रंगाने की बात है। बिरहा इस प्रकार है:

ललकहि धोतिआ बहुत हम पेन्हलों,
अब सुगापंखी[४३] रंगाव ऽ।
सँइआ जी के कोरवा बहुत दिन सूतलों,
अब नइहर पहुँचाव ऽ॥

पिअरी––भोजपुरी लोकगीतों में पिअरी की चर्चा बार-बार आयी है। सादे वस्त्र को हल्दी या अन्य किसी पीले रंग में रंग देने पर उसकी 'पिअरी' संज्ञा होती है। यह प्रत्येक शुभ अवसर पर व्यवहृत होती है। पुत्र जन्म के बाद शिवजी को पिअरी चढ़ाने का वर्णन लोकगीतों में आया है। एक गीत में शिव गौरी को यह राय देते हैं कि वह 'सोवरन पिअरी' पहन कर अपनी सौत को घर लावे। मलमल की पिअरी जिसे कन्यायें विवाह के अवसर पर पहनती हैं, 'पुतली' कही जाती है (अपने पुतुलिए हो बाबा, कर धरम बिआह)। 'पुतली' में गोटे लगे रहते हैं।

लुगरी––फटी पुरानी धोती को लुगरी कहते हैं। इसका उल्लेख निम्नाङ्कित बिरहे में पाया जाता है:

"छिटिआ पहिरि गोरी बिटिआ कहवली,

लुगरी पहिरि लरकोर ।
मथवा बन्हा के[४४] गोरी चलली बजरिआ,
ताकेली इअरउ[४५] का ओर ।।"

उपर्युक्त बिरहे से स्पष्ट है कि युवतियाँ छींट पहन कर इतनी सुन्दर दिखने लगती हैं कि लोग उसे 'बिटिआ' (नवयुवती) कहने लगते हैं।

लहरा-पटोर

भोजपुरी लोकगीतों में लहरा-पटोर की चर्चा अनेक स्थानों में पायी जाती है, जिनमें एक चैता का गीत नीचे दिया जाता है :—

चइत रे मासे सँइआ[४६] हठि मांगेला गवनवा हो रामा ।
आऊ आऊ बभना बइठ मोरा अंगना,
सोंचि देहु गवना[४७] के सुदिनवा हो रामा ।
तोहरा के देबौ बाभन चढ़ने के घोड़वा,
बभनी[४८] के लहरा पटोरवा हो रामा ।"

इससे तो ज्ञात होता है कि लहरा-पटोर कोई कीमती वस्त्र रहा होगा । जायसी की पद्मावत में वर्णित 'लहरि-पटोरे' का अर्थ डा० अग्रवाल ने 'एक प्रकार का विवाह में वर पक्ष की ओर से कन्या के लिये भेजा जाने वाला भारी लहँगा' किया है ।[४९] भाषाकोष में 'लहर-पटोर' का अर्थ 'धारीदार एक रेशमी वस्त्र' दिया है । चंपारन में देवी पर एक प्रकार का रंगीन धारीदार वस्त्र चढ़ाते हैं, जिसे 'पटोरी' कहते हैं। आज भी राजस्थान में एक प्रकार की लहरदार रंगी हुई ओढ़नी प्रचलित है, जिसे 'लहरचो' या 'लहरिया' कहते हैं।[५०] इसी प्रकार गुजरात में पटोला नाम की एक प्रकार की रेशमी साड़ी प्रचलित है जिसे प्राचीनकाल में 'विचित्र पटोलक' कहते थे ।[५१] भोजपुरी लोकगीतों में संभवतः लहरा राजस्थान की बनी ओढ़नी और पटोर गुजरात की पटोला साड़ी के लिये प्रयुक्त है ।

ओढ़नी या चदरी

भोजपुरी लोक गीतों में लाल, पीले और हरे रंग की ओढ़नी की चर्चा है । एक गीत में ओढ़नी के अर्थ में 'ओहार' का भी प्रयोग हुआ है । एक झूमर में कामदानी बूटेवाली चदरी की चर्चा है । जैसा कि पहले बतलाया गया है, कामदानी का अर्थ है तार या सलमा सितारों से बने बेल-बूटे ।

लहंगा

लहंगा एक प्रकार का घँघरा है, जिसे स्त्रियाँ साड़ी पहनने के पहले अपने कटि-प्रदेश में पहनती थीं । इसमें इजारबंद लगे रहते थे । अब लहंगा का प्रचलन बंद सा हो गया है और इसका स्थान 'साया' ने ले लिया है । मुख्यतः जेवनार और बिलौकी की गारियों में इसके वर्णन मिलते हैं । लग्न गीतों में 'उट्ङ्ग' (छोटा) लहंगा भी कन्या की उदासी के कारणों में एक है ।

झीन लहंगा––अत्यंत महीन वस्त्र का बना लहंगा । गीत में कुसुम रंग की साड़ी के साथ इसका नाम आया है (झिनि झिनि लहंगा कुसुम रंग सारी) ।

अतरस या अतलस का लहंगा––अतलस वस्त्र का बना लहंगा । अतलस अरबी भाषा

का शब्द है और एक प्रकार के बहुत मुलायम रेशमी कपड़े के लिये प्रयुक्त होता है। लोकगीतों में अतलस के लहंगे का वर्णन कुसुम रंग या भिनवा सारी के साथ आया है।

गोटा जड़ा लहंगा--ऐसा लहंगा जिसमें गोटा जड़ा हो। पन्नी की पट्टी को गोटा कहते हैं। कपड़े को भड़कीला बनाने के लिये किनारे पर गोटा टांक दिया जाता है।

अभ्रक का लहंगा--ऐसा लहंगा, जिसमें अभ्रक जड़ा हो। लहंगे को चमकीला बनाने के लिये उसमें अभ्रक की बिन्दी टांकी जाती रही होगी (के मोरा लावे राम अभरख लहंगवा)।

चोली

भोजपुरी लोक गीतों में चोली (सं० चोल या चोली) वक्षस्थल ढकने के लिये व्यवहृत होने वाले वस्त्र के लिये आया है। यहाँ इसका पर्यायवाची शब्द अंगिया (स० अंगिका) है। चोली शब्द तो गीतों में बार-बार आया है, पर अंगिया बहुत ही कम प्रयुक्त हुआ है। इससे अनुमान किया जाता है कि किसी कारण से यह शब्द लोकप्रिय नहीं हो सका।

चोली की बनावट कुछ इस प्रकार की होती है कि वह केवल स्तन को ढक सके और उन्हें समेट कर रख सके। उस में बंद लगे रहते थे जो पीठ पर बांध दिये जाते थे। आज चोली का प्रचलन प्रायः उठ सा गया है[५२] और इसका स्थान 'बॉडिस' या 'ब्रेसरी' ने ले लिया है। यहाँ यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि 'बॉडिस' अब ठेठ देहात तक पहुँच गई है। चोली को लेकर लोकसाहित्य में बड़ी सरस कल्पनाएँ की गयी हैं, जिन पर किञ्चित दृष्टि-निक्षेप अनुपयुक्त नहीं होगा। भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने सदा से प्रफुल्ल उरोजों को ही प्रमुखता दी है और उनकी तुलना श्रीफल, सदाफल, तालफल, कलश, मंदारवृक्ष, चक्रवाक, आदि से की है। लोकसाहित्य में उरोज कचनार, सिन्होरा (सिन्दूर-पात्र), नारियल, नीबू, अनार और खरबूजे से तुलित है। अतः साहित्य में--चाहे वह शिष्टसाहित्य हो या लोक-साहित्य, चोली का स्थान अनिवार्य हो गया है।

लोक कवि की दृष्टि में उरोजों के लिये चोली की इसलिये आवश्यकता है कि उरोजों के आँखें हो गयी हैं,[५३] चोली उरोजों का शृङ्गार है;[५४] पसीने से भीगी चोली को सुखाने के लिये उस पर देवर को पंखा झलना चाहिये;[५५] सम्पूर्ण रस तो लहंगा खींच लेता है और व्यर्थ दोष दिया जाता है चोली को;[५६] तंग चोली से उभरता हुआ उरोज बैठ जाता है।[५७] देहाती गवैयों में प्रचलित एक कजरी में दरजिन इसलिये परेशान दिखलायी गई है कि वह पल-पल बढ़ने वाले उरोजों के लिये चोली सीने में असमर्थ है।[५८] धोबी चोली तो धोता है थोड़ा, पर 'बोली' बोलता है बहुत और चोली मरोड़ कर रस लेता है।[५९] लोक गीतों में व्यक्त इस प्रकार की अनेक उक्तियां उपस्थित की जा सकती हैं।

रंग एवं बनावट की दृष्टि से चोली के अधोलिखित भेद हैं:

बूटेदार चोली--ऐसे कपड़े की चोली जिस पर बेल-बूटे छपे हों (चोलिया सिअवलो बूटेदार, गरमी के)।

पाट-चोली--पाट की बनी चोली। पाट एक प्रकार का रेशम है, जिसे पाटंवर भी कहते हैं। प्राचीन साहित्य में पाटंवर की बहुधा चर्चा हुई है।

काशीवाल चोली--काशी की वनी चोली। काशी का कामदार रेशम आज भी विख्यात है। चम्पारन जिले से प्राप्त एक भूमर में इसकी निम्नाङ्कित प्रकार से चर्चा है:

"रेसमी का सोभेला डारा रे लहंगवा
चोलिआ सोभेला कासीवाल, गोरिआ रेसमी।"

पटना की चोली--पटने की बनी चोली जिसमें छत्तीस बंद[६०] लगते थे। ये बंद इतने उलभनपूर्ण होते थे कि उन्हें खोलने में कठिनाई होती थी, ऐसा भाव एक चैतावर में व्यक्त है। यथा

पटना के चोलिआ छतीस रंग बनवे हो रामा
लरिका बलमुआ खोलहुँ ना जाने।

कटाव की चोली--वेल बूटे या चिड़ियों की आकृतियाँ (सफेद कपड़े की) काट कर इसी रंगीन कपड़े पर टांके से वैठा दी जाती हैं, उसे 'कटाव करना' कहते हैं। ऐसे कपड़े की चोली कटाव की चोली कही जाती हैं। एक बारह मासे में कटाव की चोली की चर्चा इस प्रकार है:

"पूस हे सखी परन कुहेसा, भींजेला लहरा पटोर हे।
चोलिआ जे हमरो कटाव के भींजेला, जोबना भींजेला मतवाल हे।।"

तास की चोली--तास एक प्रकार का रेशमी वस्त्र है, जिस पर कलाबत्तू के बेल-बूटे रहते हैं। तास की चोली की चर्चा जेवनार की गारी में है (फाटतु हैं मोरा तास के चोली, मउरतु हैं जोवना)।

कड़े की चोली--संभवतः किसी ऐसे वस्त्र की चोली जो कड़-कड़ बोलता हो। पूर्वोक्त दोहरे में यह आयी है।

कसमस की चोली--संभवतः अर्थशास्त्र में वर्णित कौशेय (रेशम) की बनी चोली।[६१] इस प्रकार की चोली एक बरसाती में आयी है, जहाँ पूर्वदेश में वाणिज्य में जानेवाला व्यक्ति अपनी प्रेयसी को कसमस की चोली लाने का वादा करता है।

सदावरत की चोली--सदावरत की चोली की चर्चा एक दोहरे में है। इसके संबंध म हमें अन्य कोई जानकारी नहीं है।

कुसुम रंग चोली--कुसुम के रंग में रंगी हुई अंगिया या चोली। एक बारहमासे में कोई विरहिणी कहती है:

'चइत हे सखी कुसुम फूलिए गइले, सब सखी चुनरी रंगाई।
हमरो बलमुआ घरे जो रहिते, पेन्हतों में अंगिया रंगाई।।'

कोरा कागद की चोली--सादे कागज की चोली कभी बनती थी या यह केवल कल्पना है यह कहना कठिन है। ऐसे तो आज भी जापान में कपड़े की जगह कागज के छाते बनते हैं। जेवनार की एक गारी में कागज की चोली आयी है। यथा

कोरा कागज के जे चोलिया सिआया
सनधी बहु तोरा अंगे लाई।
चोलिआ का बीचे बीचे नीमू नारंगी
पाकि रहेला सरलाई।।[६२]

चित्र उरेहल चोली--यहाँ कसीदे द्वारा चोलियों पर बने बेलबूटे या पशुपक्षियों के चित्र से तात्पर्य है । एक बारह मासे में ऐसी चोली की चर्चा है:

चनन रगड़ेली सुनर, गांथहि चंपा फूल हार ।
चोलिअन चित्र उरेहल, सुरख कइ मास असाढ़ ।।
ऊधौ हो कन्हइआ कहाँ छोड़ल ।

फूल की चोली--ऐसी चोली जिसमें संभवतः फूल खोंसने के लिए जगहें बनी रहती थीं । इस सम्बन्ध में एक गीत नीचे दिया जाता है:

ननदी का आङ्गना चनन गाछ बीरवा[63] लाल ।
फुलवा एक फुलइले कचनार हो लाल ।
फुलवा में चुनि चुनि भरलो चङ्गेलवा[64] लाल ।
फुलवा केर हम अँगिया सिअइबो लाल ।
गोड़ लागू पइँआँ परो ससुरजी के बेटउआ[65] लाल ।
पटना से एक दरजी बोला दी लाल ।
अइसन चोली बन[66] सीहे दरजिआ लाल ।
रने बने[67] दू गो फुलवा लगइहे लाल ।
रने बने दू गो मोरवा लगइहे लाल ।
उठत बाजे दरजी अपरस[68] घुघुरवा[69] लाल ।
बइठे का बेरी कुहके बन के मोरवा लाल ।
गोड़ लागो पँइआँ परो ससुरजी के बेटउआ लाल ।
पटना से एगो धोबिआ बोला दी लाल ।
अइसन चोली बन धोइहे रे धोबिआ लाल ।
रने बने दूगो फुलवा बँचइहे लाल ।
रने बने दूगो मोरवा बँचइहे लाल ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पटने की चोली विख्यात थी ।

झूला

स्त्रियों की ऐसी कुर्त्ती को झूला कहते हैं, जिसमें बाहें नहीं होती हैं । 'जोबना के फुनगी मरोर, जोड़ा झूला फारे हो जोबना', आदि अनेक गीतों में इसकी चर्चा है ।

१-बाबा उगले अँजोरिया के रात, चूनर मोरा झलके । (शाहबाद)
२-अगहन सरदी स के होता गवनवा, घर घर चूनरी रङ्गाई । (चंपारन)
३-एकत जे बाड़ू धनी कारी रे कोइलिआ, दोसरे बँझिनिआ बाड़ू हे ।
धनिआ, तोरा नाहिं सोभला चुनरिआ, चुनरिआ ना रङ्गाएब हे । (चं०)
४-भउजी का होइहें होरिलवा, चुनरिआ हम निछावन लेबो हे । (चं०)
५-खिरकिनि काटि नेहाइ, सुरुज गोड़ लागिले हे ।

सुरुज, मोहि पर होइँ ना देआल, डोमिनि बिरही बोलेला हे ।।
मोरा पछुअरवा रङ्गरेज भइआ बेगे चलि आवहुँ हे ।
भइआ, रङ्गि देहुँ लाली रे चुनरिया, त डोमिनि बोलाएब हे । (सारन)
६–कइसे में उठीं देवर रउरी बचनिआ ।
रङ्गाइ देहुँ ना, रस बून के चुनरिआ । (चं०)
७–खोलि देहुँ सँवरों हे लाली रे चुनरिआ हो
लुगरी पहिरि सुअरी चरावहुँ नूरे की । (चं०)
८–हरदी कहए हम रंगब, अपने रंग रंगब हे ललना ।
रंगबौ देवकी के चुंदर, अपने रंग रंगब हे ।।
–श्री राम इकबाल सिंह राकेश, मैथिली लोक-गीत (प्रयाग १९९९ वि०), पृ० ८१ ।
९–(क) वइण का आँगण म पिपछई रे बीर चूनर लावजे ।
–श्री रामनारायण उपाध्याय, निमाड़ी लोकगीत (जबलपुर १९४९ ई०), पृ० १६ ।
(ख) माड़ी जाया चूनर लाजो ।
–श्री श्याम परमार, मालवी लोकगीत (इन्दौर, २००८ वि०), पृ० ८३ ।
१०–बांधो ईश्वर मोज्य ! ओढो पारवती जी चूंदडी ।
–श्री झवेर चंद मेघाणी, चूंदडी, भाग पहेलो (अमदावाद, १९४६ ई०), पृ० ७ ।
११–चढो अे तो ओढाँ, ढोला, चूनड़ी
रहो अे तो दिखणी रो चीर जी ढोला ।
–श्री राम सिंह, राजस्थान के लोकगीत, उत्तरार्द्ध (कलकत्ता, १९३८ ई०), पृ० २९७ ।
१२–डा० सत्येन्द्र, ब्रज-लोक-साहित्य का अध्ययन (आगरा, १९४९ ई०), पृ० १७९ ।
१३–मोतिहारी के श्री दयाचंद जालान से ज्ञात हुआ है कि राजस्थान में चूनरी वस्त्र पर बने बूटे को कहते हैं और चूनरी शब्द ओढ़नी का पर्यायवाची बन गया है ।
१४–इसी से डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने चूनरी का अर्थ साड़ी किया है ।
–डा० कृष्णदेव उपाध्याय, भोजपुरी ग्रामगीत (प्रयाग, २००० वि०), पृ० २५५ ।
१५–डा० ग्रियर्सन, बिहार पिज़ैन्ट लाइफ (कलकत्ता, १८८३ ई०), पृ० १४९ ।
१६–डा० मोतीचंद्र, भारतीय वेश-भूषा, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक उतरार्द्ध, वर्ष ४९, अंक १-४ पृ० ३६८ ।
१७–डा० मोतीचंद्र, वही, पृ० ३५५ ।
१८–चंपारन जिले की सीमा पर स्थित मुजफ्फरपुर जिले का एक छोटा सा बाजार ।
१९–जूड़ा
२०–डा० मोती चंद्र, वही, पृ० ३७३ ।
२१–सरहन्द से मजीठ आँदी, चोला–चोप रंगाया ।
–श्री संतराम, पंजाबी गीत (लाहौर, १९२७ ई०), पृ० ३८ ।
२२–स्वाद में कच्चा जैसा
२३–गाढ़ा भड़कीला रंग
२४–लाल ओड़, ऐसी स्त्री जिसके छोटा बच्चा हो ।

२५–राजस्थानी लोक-गीत की निम्नाङ्कित पंक्तियों से तुलना कीजिए :

चूनड़ साल सुकाइयो, चोर तकातक जाय ।
चोर विचारो के करै, घर में देवरियो जी चोर ।।

वारी अे लुम्यारी डोरी

–श्रीराम सिह, वही, पृ० ४७१ ।

२६–पहिरि जो चीर परोसै आवहिं ।
दूसरि ओर बरन देखरावहिं ।।

–श्रीराम चंद्र शुक्ल, पद्मावत् (काशी, २००८ वि०) पृ०, १५३ ।

२७–डा० वासुदेव शरण अग्रवाल––पद्मावत में वस्त्र वर्णन, हिन्दी अनुशीलन, वर्ष ८ अं० ४, पृ० १४१ ।

२८–कचनार । यहाँ उरोजों की उपमा कचनार के वृक्ष से दी गयी है । कथासरित्सागर में उरोज मंदर से तुलित है ।

२९–किआ बहिनी पहिरब रातुल, किआ रे दखिन चीर ।
कवन वसतरवे रउरा पहिरब, बार परिछब ।। (शा०) ।

३०–डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, वही, पृ० १४१ ।

३१–डा० मोतीचन्द्र, वही, पृ० ३५५ ।

३२–"ऊँचे अटरिया चढ़ि बोलले कवन लाला
अस दल बेटी केकंरे सिर रे आवेला ।
केंचुआ पहिरि जब निकलेली कवन बेटी
अस दल बाबू जी रउरे सिर आवेला ।"

३३–"झिलमिल केंचुआ पहिरि भइया भगता हो
चल भगता देवी का दुआर हो ।
देवी का दुअरवा चनन गाछ बिरवा
दुअरा सेवख भइले ठाड़ हो ।।"

३४–श्री राम इकबाल सिंह राकेश, वही, पृ० ३०६ ।

३५–कातिक हे सखी लागे पुरनमासी, सखी सब गांगा असनान हे ।
सब सखी पेन्हे राम पाट-पितंबर, हम धनी लुगरी पुरान हे । (चं)

३६–साम वरन रघुनंदन ओढ़त पीतंबर । (सा०)

३७–झारि पीतंबर विछवतु, त राम पवढ़ावहुँ । (सा०)

३८–एकदि दीनां पाट-पटंबर, एकनि सेज निवारा । (कबीर)

३९–मारग चलत अनीति करतु हैं, हठि कै माखन खात ।
पीतांबर लै सिर ते ओढ़त, आंचल पै मुसकात । (सूर)

४०–डा० मोती चन्द्र, वहीं, पृ० ३७३ ।

४१–डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, प्राचीन भारत का कला विलास (कलकत्ता), पृ० ६२ ।

४२–डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, वही, पृ० १४०–४१ ।

४३–सुग्गों के पंख जैसा हरा रंग ।

४४–जूड़ा बाँधकर ।

४५–यार, जार ।

४६–स्वामी ।

४७–द्विरागमन ।

४८–ब्राह्मणी ।

४९–डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, वही, पृ० १४० ।

५०–श्री रामसिंह, वही, पृ० ४१८ ।

५१–डा० मोतीचन्द, वही, पृ० ३५४।

५२–राजस्थान और मालवा की ग्रामवासी स्त्रियां आज भी चोली (जिसे वे कांचली कहती हैं) का प्रयोग करती हैं । नगरों में भी चोली का प्रचलन बढ़ रहा है ।––सम्पादक

५३–जोबना भइले अँखफोर, चोलिया सिआदे हो बलमुआ ।

५४–जोवना के सिङ्गार, चोलिया काहे ना ले अइल ।

५५–देवरा बेनिआ डोलाब, चोली बन भींजेला पसिनवे ।

५६–गोरी देली चोलिया के दोस, सब रस खींचेला लहंगवा ।

५७–उठल जोबन बइठि जाय, सँकत चोलिया सिए हो दरजिया ।

५८–"अङ्गिया सिए दरजिनिआ, छतियाँ नापे सौ सौ बार ।
तंग होत तरजूमा ना लागै, बौरी होत लचार ।
घड़ी घड़ी पहिराय उतारे, तड़ तड़ तड़कत तार ।"

(मुजफ्फरपुर जिला)

तुलना कीजिए:––

(क) अंगिया जो उधड़ी हरे लील की
छिपिया को जइयाँ खोर ।
उठत बएस के दोई जोबना
कढि आए पसरियाँ फोर ।

––श्री देवेन्द्र सत्यार्थी, धरती गाती है, पृ० ११६–१७ ।

(ख) लिखन बैठि जाकी सबी, गहि गहि गरब गरूर ।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर ।। (बिहारी)

५९–बोली का यहाँ अर्थ है साङ्केतिक भाषा में मजाक ।

६०–छत्तीस का अर्थ यहाँ 'बहुत' है ।

६१–डा० मोती चन्द्र, वही, पृ० ३४७ ।

६२–मुलायम होना

६३–वृक्ष ।

६४–टोकड़ी ।

६५–बेटा का विस्तृत रूप ।

६६–बंद । ६७–आरण्य वन में । ६८–अर्थ अज्ञात है । ६९–घुंघरू ।

जन्म-संस्कार-सम्बन्धी शब्दावली

[अलीगढ़ क्षेत्र की बोली पर आधारित]

अम्बाप्रसाद 'सुमन'

हिन्दुओं में शास्त्रानुसार सोलह संस्कार[1] प्रसिद्ध हैं किन्तु लोकाचारों के रूप में उनमें से कुछ ही मनाये जाते हैं। अलीगढ़ क्षेत्र में संस्कारों से सम्बन्धित जो लोकाचार विशेष रूप से हिन्दू घरों में होते हैं उनके नाम इस प्रकार हैं:

(१) **साद-आवन**--हमारे शास्त्रों में इसे 'पुंसवन' संस्कार कहा गया है। (सं० पुमान् सूयते अनेन = जिससे पुरुष उत्पन्न होता है, वह संस्कार)

(२) **जनम**--इसका शास्त्रविहित नाम 'जातकर्म' है।

(३) **दष्ठौन**--इसे 'नामकरण' संस्कार भी कहते हैं।

(४) **जसूटन**--इसी को हमारे शास्त्रों में 'अन्नप्राशन' बताया है। इसका एक जनपदीय नाम **'चटनौ'** भी है।

(५) **मूँड़न**--इसे 'चूडाकरण' या 'चौलकर्म' भी कहते हैं। आश्वलायन के अनुसार 'चौलकर्म' जन्म से तीसरे, पाँचवें या सातवें वर्ष में करना चाहिए।

(६) **कनछेदन**--इसे 'कर्णवेध' भी कहते हैं।

(७) **जनेऊ**--इसका नाम 'उपनयन' अथवा 'यज्ञोपवीत' संस्कार भी है। 'वेदारम्भ' को लोक में **'पट्टी पूजन'** कहते हैं।

(८) **ब्याह**--(सं० विवाह) यह मुख्य और बड़ा संस्कार है। इसके अन्तर्गत **पक्की, भेंट, सगाई, लगुन, ब्याह, बिदा, दसईं,** आदि सब रीति-रस्में की जाती हैं। लड़कियों के **गौने, रौने**, आदि के नेगचार भी वैवाहिक कर्मों के उत्तरार्द्ध माने जा सकते हैं। गौने को **'गाँठें'** और रौने को **'चाला'** भी कहते हैं।

(९) **गमी**--इसे अन्त्येष्टि संस्कार के नाम से पुकारते हैं। **बरकटा, तेरहीं, मासी, बरसी, सराद** (सं० श्राद्ध) आदि गमी से ही सम्बन्धित हैं। श्राद्ध आदि और्ध्व-दैहिक कर्म या प्रेतकार्य नाम से भी संस्कृत साहित्य में प्रचलित हैं। वाल्मीकि-रामायण में रावण अपने पुत्र मेघनाद के मारे जाने पर शोक प्रकट करते हुए कहता है:

मम नाम त्वया वीर गहस्त यमसादनम्।
प्रेतकार्याणि कार्याणि विपरीते हि वर्तसे॥

(वाल्मीकि-रामायण, युद्धकाण्ड, ९३।१४,१५।)

गर्भिणी स्त्री के लिए जनपदीय भाषा का प्रचलित शब्द **पेटवारी** है। यदि कोई स्त्री गर्भ से हो तो स्त्रियाँ उसके लिए कहती हैं कि **'आजकल बाकौ पाँउ भारौ है'**। स्त्री का

गर्भ जब छः महीने का हो जाता है तब सातवें महीने में उस स्त्री के **माइके** (माता का स्थान अर्थात् पीहर=सं० पितृगृह) से कुछ कपड़े, मिठाइयाँ और फल आते हैं ; उन्हें **साद** (सं० श्रद्धा=सद्धा=साध=साद) कहते हैं। साद आने का यह **नेग** या **नेगुला** अर्थात् **टेउला** **'साद-आवन'** कहाता है। साद के कपड़ों में मा अपनी **धीअ** (पुत्री) के लिए पीले रंग का एक दुपट्टा विशेष भेजती है जो **पीअरी, पीअरौ** या **पौमचा** कहाता है। उसी पीअरी को ओढ़कर गर्भिणी स्त्री सातवें महीने के किसी शुभ दिन **साद-पूजन** (सं० श्रद्धापूजन) के लिए अपने पति के साथ **चौक** (आटे से बनाया हुआ स्वस्तिक चिह्न-सहित एक वर्ग विशेष) पर बैठती है। उस समय अन्य स्त्रियाँ **सोहर** या **सोहिलौ**[२] नाम का गीत भी गाती हैं। माइके से आये हुए वस्त्र गर्भिणी स्त्री को चौक पर बैठाकर पहनाये जाते हैं। उसे **साद-पहरावनी** कहते हैं। साद पूजने के बाद वधू **मान** (सं० मान्य=वधू के पति का बहनोई या फूफा), ससुर तथा जेठ आदि को गुड़, शक्कर या बताशे देती है। इस लोकाचार को **आँजुरि भरन** (सं० अञ्जलि-भरण) कहते हैं।

नौ महीने पूरे हो जाने पर गर्भिणी स्त्री **जननहारी** कहाती है। बच्चा पैदा होने की अवस्था को **जन्ति** कहते हैं। जन्ति के समय यदि बच्चा पैदा होने में देर हो रही हो और जननहारी को **जन्ति-पीर** (जनन-पीड़ा) भी असह्य हो तो **जापा** (जनन-कार्य) करने वाली बड़ी-बूढ़ी **बैयरबानियाँ** (स्त्रियाँ) **फूल** (काँसा) की थाली में **गंगौटी** (सं० गंगा+मृत्तिका=गंगा नदी की मिट्टी) से एक रेखा-चिह्न (नं०१) काढ़ कर और उसमें पानी मिला कर जननहारी को उसे पिला देती हैं। इस रेखा-चिह्न को **चकमक** कहते हैं। स्त्रियों का विश्वास है कि चकमक पी लेने पर जननहारी के पेट से बच्चा आसानी से बाहर निकल आता है। जिस बालक के पाँव सर्वप्रथम गर्भाशय से बाहर निकलते हैं, वह **बिसुनपाँय** (सं० विष्णुपाद) कहाता है। बिसुनपाँय बालक बड़ा शुभ, भाग्यशाली तथा होनहार माना जाता है। इसके सम्बन्ध में यह विश्वास भी प्रचलित है कि बिसुनपाँय बालक यदि चिगवाले आदमी की कमर में लात मार दे तो उसकी **चिग** (नचका=कमर की नस की स्थान-च्युति) ठीक हो जाती है। यदि छः महीने का अथवा इससे कम का गर्भ किसी कारण गिर जाता है तो उसे **'आधान गिरना'** कहते हैं। बिना रजस्वला हुए यदि किसी स्त्री को गर्भ रह जाय तो उससे उत्पन्न बालक **लामन कौ बालक** या **लामतिया बालक** कहाता है। कहावत है कि **"बीजुरी लामन के और काँसे के पै ही परत्यै,"** अर्थात् बिजली लामन के बालक और काँसे के बर्तन पर ही गिरती है।

जब बच्चा पैदा होता है तब उसकी **टूँड़ी** (नाभि) में लगा हुआ एक मोटा सूत-सा आता है जो **नार** (सं० नाल) कहाता है। बच्चा पैदा होते समय **जच्चा** (बच्चा पैदा करने वाली स्त्री) के गर्भाशय में से रक्त, आदि दूषित माद्दा निकलता है। उस दूषित माद्दे की थैली को **खराई** या **खकराई** कहते हैं। खराई को संस्कृत में **जरायु**[१] या **अपरा** नाम से भी पुकारते हैं। नार का एक सिरा बच्चे की **टूँड़ी** (सं० तुण्डिका7टुंडिआ7टुंड़ी7टूँड़ी) से और दूसरा खराई से सम्बन्धित रहता है। बाहर आई हुई खराई और नार को सामूहिक रूप में **आमन्नार** (सं० अपरानालअव7रानाल7आँवरनाल7आँवन्नाल7आमन्नार) कहते हैं। नवजात शिशु के मुँह में **दाई** (सं० धात्री) अपनी उँगली डाल कर बच्चे के **कौए**

(सं० ककुत्>अप० कउअ>कौआ) अर्थात् काग को ठीक करती है ताकि बच्चे के श्वास और नाद की क्रिया अबाध रूप से होती रहे। दाई द्वारा की जाने वाली इस क्रिया को **घांटी** (सं० घण्टिका—अभिधान-चिन्तामणि, ३।२४९) कहते हैं।

जातकर्म संस्कार

नवजात शिशु जब सर्वप्रथम माता के स्तन से दूध पीता है, तब **आँचर दबाया** जाता है। आँचर दबाने से पहले बच्चे को पेंउआँ (पानी, गुड़ और अजमाइन को औटा कर बनाय हुआ पेय) ही पिलाया जाता है। जन्म दिन की सन्ध्या को तारईं की छाँह (सं० तारिका-छाया) में दूब घास से जच्चा के स्तनों पर पानी लगा कर धीरे-धीरे उन्हें धोते हैं। यह क्रिया **आँचर दाबना** कहाती है।

बच्चा पैदा होने के दूसरे या तीसरे दिन बहू के माइके को सूचना के रूप में गुड़ की भेली भेजी जाती है। इस लोकाचार को भी **भेली** या **छोछिक-मँगनी** कहते हैं। भेली भेजते समय जो गीत गाया जाता है वह भी **भेली** या **छोछिक-मँगनी** ही कहाता है:

"उड़ि उड़ि कागा कजरी बन कूँ,
उड़ि उड़ि जइयौ बबुल के देस।
धीयरि माँगै पिअरौ।
कहियो माइलि समझाइ, धीयरि माँगै लाड़ुए।
कहियौ माइलि समझाइ, धीयरि माँगै खीचरी।"

जिस घर में जच्चा बच्चा **जनती है** (पैदा करती है), उस घर को **सोभर** कहते हैं। लड़का पैदा होने पर काँसे की थाली और लड़की के पैदा होने पर लोहे का तवा बजाया जाता है। बच्चा पैदा होने से कुछ घण्टे पहले सास चलनी (छलनी) में जौ भरकर बहू के आगे रख देती है और बहू उन जौ को अपने हाथों से दो भागों में विभक्त कर देती है। इस क्रिया को **औंड़ाकौंड़ा** कहते हैं। स्त्रियों का विश्वास है कि औंड़ाकौंड़ा से बहू की जन्ति की पीर नहीं बढ़ती और **बेमाता** (सं० विधिमाता=मातृका, अर्थात् वह देवी जो गर्भ में बच्चे के शरीर का निर्माण करती है और उसे जन्म देती है) बच्चे को कुशलपूर्वक रखती है। औंड़ा-कौंड़ा वाले जौ बाद में बच्चा जनने वाली दाई को दे दिए जाते हैं। बच्चे का जन्म कुशल-पूर्वक हो जाय, इस आशा से सास **पाँच टका** (दस पैसे) **अऊत-पितरों** (सं० अपुत्र-पितर) के नाम पर उठा कर रख देती है। उन टकों को **उठाइना** या **उठाना** (सं० आवर्तन) कहते हैं। मनुष्यों का विश्वास है कि सन्तानहीन मनुष्य मरने के बाद अऊत बनते हैं और सन्तान वाले पितर। जिस स्त्री के केवल एक सन्तान होकर फिर कुछ न हो, उसे **कौआ-बाँझ** कहते हैं।

बच्चा पैदा होने के तीसरे दिन जब जच्चा सोभर से निकल आती है तब उसका आना **बाहर निकलना** कहाता है। बाहर निकल कर जच्चा बड़ी-बूढ़ियों के चरण छूती है जिसे **पाँयन-लगना** कहते हैं। तब एक गीत गाया जाता है जिसे **बाहरौ** कहते हैं:

"भीतर ते धनि बाहर निकरी,
करि कस्तूरी कौ उबटनौ।

धरती के पाँय लागी जचरिया,
सासुलि के पाँय लागी जचरिया,
करि कतूस्री कौ उबटनौ ॥"

जच्चा का देवर जच्चा को उसकी चादर का **ठोक** (कोना) पकड़ कर आँगन में ले आता है। आँगन में ही जच्चा अपनी सास,जिठानी आदि स्त्रियों के पाँव छूती है।

यदि किसी स्त्री के निरन्तर तीन लड़कियाँ हुई हों और फिर एक लड़का हो तो उस लड़के को **तेंतरा** कहते हैं। इसी प्रकार तीन लड़कों के उपरान्त होने वाली लड़की **तेंतरी** कहाती है। तेंतरा-तेंतरी का जन्म अच्छा नहीं माना जाता। लोकोक्ति प्रचलित है—

"जनम्यौ है तेंतरा। बखेर देगौ चेंथरा ॥"[४]

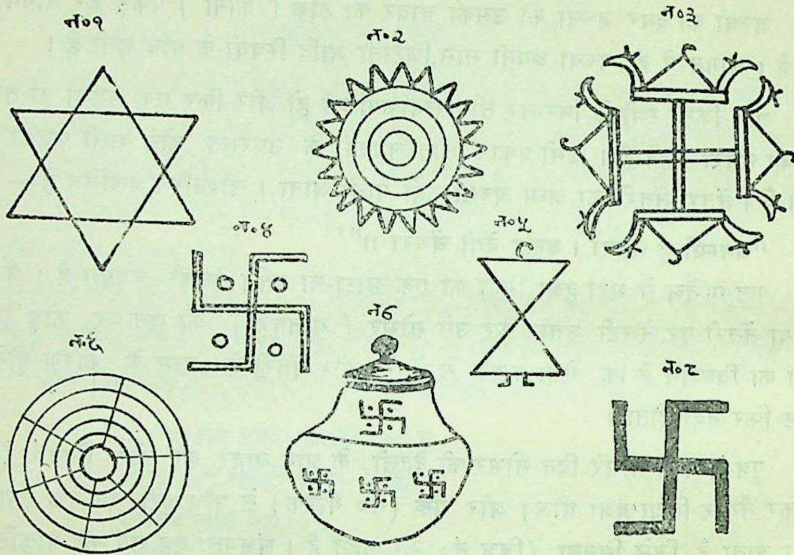
कड़ुए तेल से भरा हुआ मिट्टी का एक छोटा-सा बर्तन **तेंलड़ी** कहाता है। पैदा हुए तेंतरे या तेंतरी पर तेंलड़ी उतार कर उसे **सोभर** (सूतिगृह) की छत पर फोड़ देते हैं। स्त्रियों का विश्वास है कि ऐसा करने से तेंतरे और तेंतरी के जन्म के कारण होनेवाला अनिष्ट फिर नहीं होता।

पुत्र-जन्म से तीसरे दिन सोभर की देहली के आगे वाहर की ओर **ऐंपन**[५] (चावल पीस कर तैयार किया हुआ घोल) और **गेरू** (सं० गैरिक) से पाँच वृत्तों का एक रेखा-चिह्न बनाया जाता है जिसे **सिवता** (चित्र नं० २) कहते हैं। संभवतः यह सूर्य की आकृति होती है। सं० 'सविता' शब्द ही लोक-भाषा में उलट-पलट कर 'सिवता' हो गया है। 'सिबता' धरती पर काढ़ी जाती है। इसमें तीन लकीरें ऐंपन की और दो गेरू की होती हैं।

तीसरे दिन ही सोभर के द्वार के कौरों पर **सतिया** (सं० स्वस्तिक) और **छबरिया** (चित्र नं० ६) गोबर से बनाये जाते हैं। सोभर में घुसने के रुख पर दाहिने कौरे पर सतिया और बाँये कौरे पर छबरिया बनाई जाती है। इसी दिन एक कोरी हाँड़ी पर जच्चा की सास पाँच सतिये गोबर के बनाती है, जिन्हें **चुरुए** (सं० चरुक > चरुअ > चरुआ) कहते है (चित्र नं० ४)। जिस **हाँड़ी** (सं० भाण्डिका) पर चरुए रक्खे जाते हैं, वह हाँड़ी (मिट्टी का एक विशेष बर्तन) **चोलरा** या **चरुआ** (वै० सं० चरु—ऋक् ९।७।६)[६] कहाती हैं (चित्र नं० ७)। चोलरे में बत्तीस वस्तुओं से बना हुआ पानी भरा रहता है। उस पानी को **बत्तीसा** नाम से भी पुकारते हैं। बत्तीसा औंटाते (गर्म करते) समय पहले चूल्हे में **फूँस** जलाया जाता है ताकि नवजात शिशु की देह में **फुसेफरा** (फोड़े-फुंसियों का रोग विशेष) न हो। चोलरे पर प्रायः पाँच सतिये बनाये जाते हैं जो **काग-सतिये** या **कौआ-सतिये** (चित्र नं० ८) कहाते हैं। सोभर (प्रसूतिगृह) के द्वार के दाहिने कौरे पर जो सतिया वनता है उसे **पुतसतिया** (सं० पुत्र-स्वस्तिक) कहते हैं। यह पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में ही बनाया जाता है। कौर पर सतिया बनाने के लिए **'धरना'** धातु प्रचलित है। स्त्रियाँ कहा करती हैं कि 'आजु पूतऐ भयें तीसरौ दिन है, चरुए-सतिये धरिलेउ'। जब नन्द सतिये धरती है, तब स्त्रियाँ निम्नांकित गीत गाती हैं:

"दूर दिसा ते आईं ननदुलि बगर बतइयौ मेरे बीर कौ।
लाइके बीबी हरौ हरौ गोबर लीपति सलिल पछीत।

सतिये धरौ बीबी मोर-मुरारे, गिनि गिनि रोपौ सींक ।
धरि सतिये बीबी भईं ठाड़ी, झगरत अपनों नेगु ।।"



पुत्र-जन्म से तीसरे दिन जच्चा जब बाहर निकलती है, तब प्रसूतिका-गृह (सोभर) की देहली पर बाहर की ओर सिवता के पास कुछ चावल रक्खे जाते हैं। उन चावलों को **मोती** (सं० मौक्तिक) कहते हैं। उन्हीं चावलों की फिर खीर बनती है जिसे सब स्त्रियाँ प्रसाद रूप में प्राप्त करती और खाती हैं। इसी तीसरे दिन जच्चा को खाने के लिए **हरीरा** (घी, गुड़ और सोंठ से बनाया हुआ पेय विशेष) दिया जाता है।

पुत्र-जन्म से छठे दिन **छठी** पुजती है और **काजरपारी** भी होती है। छठी के दिन **बैं, सोहिलौ, बिहाइँ, जच्चा, सोंठ, कढ़ाउली-चमंचा, साद,** आदि नामों के मंगल-गीत गाये जाते हैं। सर्वप्रथम **बैं** गीत वैमाता के स्वागत में गाया जाता है, तदुपरान्त बिहाई (सं० वर्धापिका) गाई जाती है। बैं गीत गा कर जच्चा और बच्चे की मंगल-कामना की जाती है। वास्तव में **बैं** पुत्र-जन्म के समय गाया जाने वाला प्रधान गीत है। बाण ने संभवतः इसी के लिए 'सूतिका-मंगल-गीतिका' शब्द लिखा है।[7]

छठी के दिन घी से **छठदेई** (सं० षष्ठी देवी < प्रा० छट्ठी देई < छठी देई < छठिदेई < छठदेई) जच्चा की खाट के सिरहाने वाले दाहिने पाये पर अथवा सिरहाने की ओर की दीवाल पर बनाई जाती है। दीवाल पर बनी हुई छठदेई (चित्र नं० ५) के ऊपर हल्दी से रँगा हुआ पीला कपड़ा भी चिपका दिया जाता है ताकि पूजन के बाद छठदेई को ढक दिया जाय। बाण ने कादम्बरी में राजा तारापीड की पत्नी की सूतिका-गृह-वर्णना के समय छठी-पूजन का उल्लेख किया है।[8]

जिस स्त्री के बालक पैदा होने के बाद मर जाते हैं, उसे **मरतजाई** (सं० मृतजा-

तिका 7 मरतजाइआ 7 मरतजाई) कहते हैं। मरतजाई के पुत्र की छठदेई खाट के पाये पर ही काढ़ी जाती है। छठी के दिन जच्चा को दाल का पानी पीने के लिए दिया जाता है। प्रारम्भ में उस दाल में से जो थोड़ा सा भाग निकाल कर बछड़ेवाली गाय को दिया जाता है, वह अछूता कहाता है।

प्रायः छठदेई को **मानि** (बच्चे की बूआ) अथवा **मैंपुजनि** (पुरोहितानी जो मंगल कार्यों के लिए बुलाई जाती है) ही काढ़ती है। उस छठदेई को जच्चा के हाथों से पुजवाया जाता है। तब मानि, मैंपुजनि, सास आदि सब स्त्रियाँ निम्नांकित गीत गाती हैं। इस गीत को भी **छठी** कहते हैं —

"छठिया पुजन्ती आईं रे जचरिया।
दूध पूत बहुअर कौ जीवै, कोख माँग कूँ सब सुख हूजै।
आजु गोद भरी आई रे जचरिया।।"

छठी के साथ ही साथ एक गीत ऐसा गाया जाता है जिसमें दो-दो, तीन-तीन चरण प्रत्येक गीत के रहते हैं। उसे **सतगठा** कहते हैं। बालक की दादी (जच्चा की सास) को सम्बोधित करके **सोहिलौ** गीत भी गाया जाता है :

"छठी पूजौ ए बधाई सासुलि नाती के परसाद।
आजु लला कौ सोहिलौ।
छठी पूजौ ए बहुअरि बेटा के परसाद।
आजु लला कौ सोहिलौ।"

सोहिलौ प्रायः बालक की **तनीगाँठ** (सालगिरह) के दिन भी गाया जाता है।

छठी के दिन सन्ध्या समय में **सिरकटा** (गीदड़) बोलने से पहले छठी के ऊपर वाल पीले कपड़े को उठा कर उसे जच्चा देखती है। उस रीति को **'छठी झाँकन'** कहते हैं। छठी झाँकने के उपरान्त उसे जच्चा **लपसी** (सं० लप्सिका=गुड़, घी और आटे से बना हुआ एक लेह्य पदार्थ) से पूजती भी है। लपसी की छोटी-छोटी चँदियाँ भी बनाई जाती हैं जो **थई** कहाती हैं।

बच्चे की आँखों का **त्यौर** (ज्योति) बढ़े और अंजनिहारी अर्थात् **गुहेरी** (सं० गौधेरिका=आँख के कोए में उठी हुई एक छोटी-सी फुंसी अथवा गाँठ), **रोहू, परबाल, ढलका** आदि रोग न हों, इस विश्वास से **काजरपारी** नेग होता है। जच्चा के सिरहाने वाली दीवाल पर एक **थापा** (घी से बनाया हुआ हथेली सहित उँगलियों का चिह्न) मारा जाता है। उसके पास जलते हुए दीपक की लौ से काँसे के बेले (एक बर्तन विशेष) पर काजल पारा जाता है। उस काजल को बच्चे की बूआ या बड़ी बहन बच्चे की आँखों में लगाती है। काजल **आँजने** (आँख में लगाना) के उपरान्त बच्चे के माथे पर काजल का एक टिपका भी लगा दिया जाता है, जिसे **चखौड़ा** या **डिठौना** (सं० दृष्टिबन्धन) कहते हैं। स्त्रियों का विश्वास है कि डिठौना लग जाने पर बच्चे को नजर नहीं लगती। काजल लगाकर बच्चे को सुला दिया जाता है। सुलाते समय हाथ से उसके ऊपर जो थपकियाँ धीरे-धीरे लगाई जाती हैं वे **दबदोरन** कहाती हैं। थपकियाँ लगाने के लिए **दबदोरना** धातु प्रचलित है। बालक को सुलाने के लिए ही स्त्रियाँ प्रायः लोरियाँ गाते हुए दबदोरती हैं।

छठी के दिन मानि (बच्चे की बूआ) काले डोरे की ४-५ लड़ें करके उसे बच्चे के हाथ, पाँव, कमर और गले में बाँध देती है। उन डोरों को **गदका पोंची** कहते हैं। प्रायः बारहसैनी बनियों में जच्चा पाँच गज़ का कोरा खासा पहन कर छठी पूजती है। उस खासे (कपड़ा विशेष) को **दस्ता** कहते हैं। छठी के दिन ही मानों को खाने के लिए मैदा, घी और गुड़ से बने हुए **जाबड़े** (पकवान विशेष) दिए जाते हैं। यदि किसी स्त्री के बच्चे छठी या नामकरण के बाद मर जाते हैं तो वह स्त्री अपने बच्चों की छठी ५ या ७ वर्ष बाद मनाती है। उसे जन्म के छठे दिन छठी मनाने में **मनघिन्या** (मनघृणा) हो जाती है।

जच्चा के पीहर को एक गठरी में आटा, भेली, शक्कर और मेवा बाँध कर भेजी जाती है। उस गठरी को **पीड़ी-बँधन** कहते हैं। पीड़ी-बँधन के उपरान्त मानि जच्चा की गोद गुड़ की डेलियों या लड्डुओं से भरती है। इस रस्म को **गोद-भरन** कहते हैं। ऐसी रस्मों के समय जब कोई छींक देता है तब घरवालों को बड़ी **दुच्चक** (आशंका या दुविधा) हो जाती है। उस समय के छींकने को **टींकना** कहते हैं। शुभ कार्य प्रारम्भ होते समय जो छींका जाता है उसके लिए अलीगढ़ ज़िले में **टींकना** धातु प्रचलित है। जिस प्रकार असमय की छींक **'टी टीं'** कहाती है, उसी प्रकार असमय की प्यास **डुकास** कहाती है। असमय अथवा बेढंग का बैठना **चहुरना** कहाता है। ढँग से देखना **चाहना** या **चितइना** और बेढंगेपन से देखना **आँख फारना** कहाता है। सगुन के नेगचारों के समय टींकनेवाले व्यक्ति पर स्त्रियाँ कभी-कभी बुरी तरह से **ढिसिल्लिआई** अर्थात् **टोंकें** (व्यंग्य-वचन) मारती हैं। गोद-भरन की रस्म के समय जच्चा सगुन के लिए कुछ आभूषण भी पहनती है। उस समय उसे **सुब्ब सजीली** कहते हैं। बिना शुभ अवसर के केवल साज-श्रृंगार के ही लिए आभूषण पहननेवाली स्त्री **टिमक्कों** कहाती है और उसकी रूप-सज्जा को **टिमाक** कहते हैं। दिखावटी श्रृंगार और जचाव के लिए वस्त्राभूषण धारण करने के अर्थ में **मटकाना** धातु प्रचलित है। बनाव-श्रृंगार वाली शौकीन स्त्री **चटक्को-मटक्को** कहाती है।

नामकरण संस्कार

प्रायः जन्म से दसवें दिन[१०] बच्चे का नाम रखा जाता है। इसी लोकाचार को **दस्ठौन** (सं० दशोत्थापन) या **तगा-बंधन** कहते हैं। नाम रखते समय पंडित (कर्मकाण्ड या संस्कार कराने वाला आचार्य) जच्चा के पति, जच्चा और बच्चे के हाथ में तीन तार का पीला धागा बाँधता है जिसे **तग्गा** या तागा (पह०[११] ताक ７ फ़ा० **ताग** ７ तागा) कहते हैं। इसी का साहित्यिक नाम 'वर्ण' है। हेमचन्द्र ने देशीनाममाला (५।१) में सूत्र के अर्थ में 'तग्गा' शब्द का उल्लेख किया है। पाइअसद्द महण्णवो कोष (पृ० ५२५) में प्राकृत ग्रन्थ 'गउडवहो' का प्रमाण देते हुए 'तग्ग' शब्द सूत्रकंकण के अर्थ में लिखा गया है।

नामकरण के समय पत्नी अपने पति के साथ चौक पर बैठती है। पति के दुपट्टे से पत्नी की ओढ़नी का कोना बाँध दिया जाता है। इस बँधाव को **आँचर-गाँठ** (अन्चल-ग्रन्थि) कहते हैं। चौक पर ही जच्चा **छोछक** (माइके से आए हुए वस्त्राभूषण आदि) पहनती हैं। नाम रख जाने के बाद जच्चा के हाथों पर हल्दी से चार-चार लकीरें करते हैं। ये लकीरें **आकुरी-चाकुरी** कहाती हैं। **सोभर** (प्रसूतिका-गृह) के द्वार पर मिट्टी की एक मलरिया में चावल, गुड़, पूआ और एक अँगिया रक्खी जाती है। इस सामान को बहू

(जच्चा) अपने हाथों से सास को देती है और सास के पाँव छूकर उससे **असीस** (सं० आशिष) प्राप्त करती है। इस नेग अर्थात् लोकाचार को **चोलरा-मंसी** कहते हैं। नामकरण के उपरान्त कुआँ पुजता है। उसी दिन सतिये, छबरिया, चोलरा, आदि सूप में भर कर कुएँ पर सिराये जाते हैं। कुआँ पूजने के लिए जाने से पहले जच्चा के सिर के बाल गूँथे जाते हैं और माँग में सिन्दूर भरा जाता है। इस नेगचार को **सिरगूँदी** कहते हैं। चोलरा-मंसी के दिन ही कुछ पकवान और मिठाई भी जच्चा के हाथों से मंसवाई जाती है जो जच्चा के पीहर जाती है। उस पकवान को **कुआदेहरी** कहते हैं। कुँआ-पूजन प्रायः सोमवार तथा बृहस्पति-वार को ही किया जाता है।

दस्ठौन से लगभग सवा महीने बाद जच्चा अपने हाथ में हरी चूड़ियों को बदलवा कर उनकी जगह अन्य रंग की चूड़ियाँ पहनती है। इस लोकाचार को **चुरियाँ-पलटन** कहते हैं। चुरियाँ-पलटन के उपरान्त उस स्त्री की जच्चा संज्ञा समाप्त हो जाती है और घर-बाहर सब **प्रकार के काम** करने लगती है।

अन्नप्राशन संस्कार

'अन्नप्राशन' के लिए जनपदीय शब्द **जसूटन, चटनो** या **खीरचटन** प्रचलित हैं। बालक जब ६-७ महीने का हो जाता है तब एक रुपये पर खीर रख कर उसे चटाई जाती है। सुश्रुत और मनु ने भी अन्नप्राशन को छठे मास में ही करने के लिए लिखा है।[१२]

'चटनौ' नाम के **टेउले** (लोकाचार) के समय **कढ़ावी, पालना, झुंझुना, बिहाईं** नाम के गीत भी गाये जाते हैं। ब्रजप्रदेश की **बइयरबानियों** (स्त्रियों) की धारणा है कि जिन बालकों का जसूटन हो जाता है वे **नादीदे** (खाने–पीने के लोभी) नहीं रहते।

विवाह से पूर्व होने वाले अन्य संस्कार

जब बालक एक साल या तीन साल का हो जाता है तब उसके सिर के बाल गंगा जी पर अथवा किसी देवी-देवता के मन्दिर में मुँडवा दिये जाते हैं। इस रस्म को **मूँडन या मुंडन** कहते हैं। मुंडन के समय प्रायः बालक **घुटरुअन** (सं० घुण्टरूपेण > घुंटरूएन > घुंटरुअन > घुटनों के बल पर) चलने लगते हैं। प्रायः पाँचवें या सातवें साल में **कनछेदन** (सं० कर्णछेदन) किया जाता है। मुंडन के समय बालक के सिर से प्रथम बार उतरे हुए बालों को बच्चे की बुआ आटे की पूड़ी पर ले लेती है। वे बाल **जरूले** या **झड़ूले** कहाते हैं (जड+उल्ल=डूल=जड् अर्थात् गर्भ के पैदायशी बाल)[११]।

जन्म से तीन साल के भीतर ही एक लोकाचार और होता है जिसे **कान लेना** कहते हैं। बालक की दादी या माता बच्चे को अपनी गोद में बैठा लेती है और सामने रक्खी हुई कढ़ाई का एक कान अपने एक हाथ से पकड़ लेती है। कढ़ाई के दूसरे कान को मैपुजनि या मानि पकड़ती है। इस प्रकार दोनों स्त्रियाँ कढ़ाई को उठा कर क्रम से अपने-अपने माथों से लगाती हैं। यह क्रिया ही **कान लेना** कहाती है। तदुपरान्त बच्चे की **बलैयाँ** (अ० बला= मुसीबत, दुःख; अरबी शब्द 'बला' का बहुवचन 'बलैयात') लेती है।

१–(१) गर्भाधान (२) पुंसवन (३) सीमन्त (४) जातकर्म (५) नामकरण (६) निष्क्रमण (७) अन्नप्राशन (८) चूडाकरण (९) कर्णवेध (१०) यज्ञोपवीत (११) वेदारम्भ (१२) समावर्तन (१३) विवाह (१४) द्विरागमन (१५) मृतक (१६) और्ध्वदैहिक ।

२–"गांवों हरि को सोहिलो (हो) मन-आरवर दै मोहि ।"
——सूरसागर, ना० प्र० सभा, १०।४२ ।

३–सृष्टि चार प्रकार की मानी गई है––(१) उद्भिज (२) अंडज (३) स्वेदज (४) जरायुज––अथर्व० १।१२।१; मनु० १।४३ में 'जरायुज' शब्द आया है ।

४–तेंतरे ने जन्म लिया है । अतः वह परिवार में चीथड़े बिखेर देगा, अर्थात् उसकी दुर्दशा कर देगा ।

५–"ऐंपन की सी पूतरी (सब) सखियन कियौ सिंगार ।"
——सूरसागर, ना० प्र० सभा, काशी, १०।४० ।

६–"अमुं चरुं सत्रादावन्नपावृधि ।"
अर्थात्, हे इन्द्र ! इस चरु पात्र के ढक्कन को खोल दो । ऋक्० १।७।६ ।

७–कादम्बरी, सिद्धान्त विद्यालय, कलकत्ता–संस्क०, पृ० २७९ ।

८–"स्वस्तिक भक्ति जालसुपरचयिता..............पिंजराम्बर धारिणींभगवतीं षष्ठीं देवीं कुर्वता ।"
——बाण, कादम्बरी, पूर्व भाग, सूतिका-गृह-वर्णना,
सिद्धान्त विद्यालय, कलकत्ता का बँगला संस्क०, पृ० २७७ ।

९–"लट लटकनि सिर चारु चखौड़ा सुठि सोभा सिसु भाल ।"
——सूरसागर, ना० प्र० सभा, १०।११४ ।

१०–"नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वाऽस्य कारयेत् ।"
मनुस्मृति, लक्ष्मीवेंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई, २।३० ।
अर्थात्, जन्म से १० वें या १२ वें दिन बालक का नामकरण संस्कार करना चाहिए ।

११–देखिए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, 'हिन्दी के सौ शब्दों की निरुक्ति', ना० प्र० सभा, काशी ।

१२–"षण्मासञ्चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितञ्च"–सुश्रुत, शरीरस्थान, १०।६४ ।
"षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि यद्वेष्टं मंगलं कुले"
——मनुस्मृति, लक्ष्मीवेंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई, २।३४ ।

१३–देखिए डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, 'हिन्दी के सौ शब्दों की निरुक्ति', ना० प्र० सभा, काशी ।

ग्राम्य-जीवन पर नागरिक प्रभाव के कुछ पहलू

कैलासनाथ शर्मा

जब कभी भी ग्रामीण (rural) और नागरिक (urban) संस्कृति (culture) के सम्बन्ध में कुछ कहा जाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों संस्कृतियाँ एक दूसरे से पृथक् हैं, स्वतन्त्र हैं और दोनों में कोई भी पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है। वस्तुतः व्यावहारिक जीवन में दोनों प्रकार के समुदायों में पूर्ण पृथकता (complete isolation) पाना असम्भव है। यातायात के साधनों के विकास के फलस्वरूप और आर्थिक तथा राजनीतिक संघटनों की जटिलता के कारण अनेक प्रकार की शक्तियाँ प्रवाहित होती हैं, जिनसे इन संस्कृतियों की पृथकता और संघटन दोनों नष्ट होने लग जाते हैं। ये शक्तियाँ मुख्य रूप से आर्थिक, सैनिक, प्रौद्योगिकीय (technological) और विचार-सम्बन्धी हैं।

यदि एक समुदाय पूर्ण रूप से पृथक् रहे तो परम्परागत मान्यताओं (conventional understandings)[1] के क्रम को अवाधरूप से प्रवाहित होने का अवसर मिलता है। इसमें स्थिरता दृढ़ता और निरन्तरता बनी रहती है। पर यदि इस समुदाय का सम्पर्क अन्य समुदायों से हो जाता है तो इसके सदस्य नये विचारों, आदर्शों और दैनिक कार्यों के प्रतिमानों (patterns) से परिचित होते हैं। उन्हें अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक प्रकार के नये मार्ग मिलते हैं, जो कि उनकी संस्कृति के अनुकूल नहीं होते। वे नये मार्गों का प्रयोग करते हैं और यदि उनमें किसी प्रकार की भी सुविधा या विशेषता मिलती है तो वे उन्हें स्वीकार कर लेते हैं। इसके फलस्वरूप उस समुदाय के प्राचीन संघटन में परिवर्तन होने लगता है। यदि नवीन विचारधाराओं का आक्रमण गंभीर होता है तो समुदाय का विघटन भी अवश्यम्भावी हो जाता है, क्योंकि कुछ व्यक्ति प्राचीन परम्परागत मान्यताओं (conventional understandings) के अनुसार कार्य करते हैं और कुछ व्यक्ति नई विचारधाराओं के अनुसार कार्य करने लगते हैं, और सामाजिक नियन्त्रण इतने शिथिल पड़ जाते हैं कि समुदाय के सब सदस्यों को एक आदर्श के अनुरूप व्यवहार करने के लिए कोई भी अंकुश नहीं होता।

इस प्रकार समुदाय की पृथक्ता (isolation) के कम हो जाने से विषमता बढ़ती है और इसके साथ-साथ संस्कृति का विघटन (disorganization of culture), धर्मनिरपेक्षता (secularization) और व्यक्तिवाद (individualization) ये तीनों चीजें बढ़ती हैं।[2] इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्तियों के रहन-सहन के विभिन्न अंगों के पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्टता का अभाव होता जाता है। प्रत्येक समूह स्वतन्त्ररूप से कार्य करता है और प्रत्येक व्यक्ति को काम करने के लिए अनेक प्रकार के विकल्प

(alternatives) मिलते हैं । इसके अतिरिक्त वे अपने आर्थिक व सामाजिक कार्यों को धार्मिक कार्य नहीं मानते । धर्म का सार्वभौमिक प्रभाव धीरे-धीरे कम होने लगता है। इसके साथ-साथ प्रत्येक व्यक्ति समुदाय के कार्यों के बजाय अपने व्यक्तिगत कार्यों को अधिक महत्व देने लगता है, परिवार की सम्पत्ति में अपने अधिकार की बातचीत करने लगता है, विवाह के तय होने में अपनी राय को प्रधानता देने लगता है तथा इसी प्रकार की अन्य व्यक्तिवादी भावनायें बढ़ने लगती हैं।

यह लेख उपर्युक्त विचारधारा के अनुसार किये गये एक गाँव के अध्ययन के आधार पर लिखा गया है। यह गाँव कानपुर जिले में शहर से लगभग १० मील पक्की सड़क के निकट स्थित ह । गाँव को पक्की सड़क से मिलाने के लिए एक कच्ची सड़क है जिसे हाल में ही गाँव के निवासियों ने श्रमदान से ठीक किया है, अन्यथा बरसात में इस सड़क से बैलगाड़ियों का गुजरना भी कठिन था । ऐसी दशा में गाँव वाले खेतों से गुजरते हुए पक्की सड़क पर आ जा सकते थे।

संदेशवाहन का इतिहास और साधन

कानपुर शहर के इस गाँव पर पड़नेवाले प्रभाव को जानने के लिए इन दोनों के बीच के संदेशवाहन (communication) के इतिहास और साधनों का संक्षिप्त वर्णन भी आवश्यक है। यह गाँव राजा दिलीपसिंह के पिता द्वारा स्थापित किया गया था, और इसका इतिहास३०० वर्ष से अधिक पुराना नहीं है । उस समय कानपुर की महत्ता केवल एक तीर्थ जैसी ही थी। गाँव के व्यक्ति यहाँ गंगा स्नान करने के लिए आते थे और कुछ दैनिक आवश्यकता की चीजें भी खरीद कर ले जाते थे। उस समय न कानपुर एक औद्योगिक केन्द्र था और न औद्योगिक वस्तुओं की विशेष आवश्यकता ही थी । उस समय दोनों स्थानों में केवल भारतीय संस्कृति के ही दर्शन होते थे, और दोनों की परम्परागत मान्यताओं (conventional understandings) में भी कोई भेद न था।

पिछले सौ वर्षों में कानपुर का विकास न केवल औद्योगिक केन्द्र के रूप में हुआ है, अपितु पश्चिमी संस्कृति के केन्द्र के रूप में भी हुआ है । अब गाँववाले नौकरी के लिए, वस्तुओं की खरीद-फरोख्त के लिए, शिक्षा के लिए, मनोरंजन के लिए, मुकदमेबाजी के लिए और जीवन के नये आदर्शों की खोज के लिए कानपुर की ओर उन्मुख रहते हैं । इन पारस्परिक सम्बन्धों की घनिष्टता यातायात के साधनों के विकास से काफी बढ़ी है। बैलगाड़ी इक्का, रिक्शा, साइकिल और स्थानीय बस—ये सब सवारियाँ काम में लाई जाती हैं। बैलगाड़ी का प्रयोग गाँव से अनाज लाने के लिए किया जाता है । गाँव से कानपुर स्टेशन और स्टेशन से गाँव के लिए मुख्य रूप से इक्के का प्रयोग होता है।

इस गाँव के कुछ व्यक्ति सेना में रहे हैं और भारतवर्ष के विभिन्न भागों में घूमे हैं। ये व्यक्ति ब्राह्मण व ठाकुर हैं । एक चमार २५ साल अण्डमन में रह चुका है । कानपुर की एक मिल में काम करने वाले एक ब्राह्मण को गाँव के भूतपूर्व जमींदार ने गाँव में मकान बनवाने के लिए जमीन दे दी थी, इसलिए उसके पिता तथा परिवार के अन्य सदस्य गाँव में ही रहते हैं। एक व्यक्ति कलकत्ते में रहा है । उसने वहाँ राष्ट्रीयता के आन्दोलन की और नागरिक जीवन की झलक देखी है।

गाँव की जनसंख्या और जातियाँ

यह लगभग ७०० की जन-संख्या का एक छोटा गाँव है। इसको जातियों के अनुसार ४ समूहों में बाँटा जा सकता है--(१) उच्च जातियाँ, (२) कलाकार जातियाँ (artisan castes), (३) अन्त्यज जातियाँ (exterior castes), और (४) मुसलमान।

अन्त्यज परिवारों की संख्या सबसे अधिक है, परन्तु गाँव के सामाजिक जीवन में इनका कोई विशेष हक नहीं है। परम्परागत प्रथाओं के अनुसार और आर्थिक परिस्थितियों के कारण उच्च जातियाँ ही गाँव में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।[३]

कानपुर के निकट होने के कारण और गाँव के व्यक्तियों का कानपुर से घनिष्ठ संबंध होने के कारण कानपुर की राजनीतिक हलचलों का भी काफी प्रभाव पड़ता है। अन्त्यज परिवार अपने अधिकारों और समता की बात करते पाये जाते हैं। इनमें चमारों की आर्थिक स्थिति भी अच्छी है; इसलिए उन्होंने अपने लिए एक अलग कुआँ भी खुदवा लिया है। वे अपने बच्चों को शिक्षा भी देना चाहते हैं और दे रहे हैं ताकि उनके बच्चे उन्नति कर सकें। एक चमार जो अण्डमन द्वीप में रह आया है, उनको बताता रहता है कि अंग्रेजों में इस प्रकार का कोई भी भेद-भाव नहीं है और न छुआछूत ही है। यद्यपि इस गाँव में जाति के आधार पर कोई भी संघर्ष नहीं हुआ है, उनकी मनोवृत्तियों, विचारों और आकांक्षाओं में काफी भेद हो गया है।[४]

जाति के संघटन के सम्बन्ध में एक और महत्वपूर्ण बात है। गाँव में दो भागों में होली होती है। उच्च जातियों की होली अलग होती है। उनके साथ कलाकार जाति के परिवार भी होली मनाते हैं; पर अन्त्यज परिवारों की होली अलग होती है। वे केवल आपस में ही रंग चलाते हैं। उच्च जाति के व्यक्ति होली के अवसर पर 'रामावतारी' या 'कृष्णावतारी' गाते हैं, जिनमें राम या कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का जिक्र होता है। पर अन्त्यज जातियों के व्यक्ति 'कबीर' गाते हैं जिनमें अनेक अश्लील बातें होती हैं, विशेष रूप से यौन सम्बन्धी।

शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन

आधुनिक शिक्षा संस्थाओं का भी सामाजिक परिवर्तन पर काफी प्रभाव पड़ता है। चूंकि यह शिक्षा केवल देश के शासन प्रबन्ध में भाग लेने के लिए बनाई गई है, इसलिए उच्च शिक्षा पानेवाले ग्रामीण गाँव के बाहर भागना चाहते हैं। उन्हें ग्रामीण जीवन अच्छा नहीं लगता।

पारस्परिक सम्बन्ध---गाँव वालों के पारस्परिक सम्बन्ध प्रत्यक्ष (direct) और सन्मुख तो हैं पर पूरी तरह पारिवारिक (familial) और ओष्ण (warm) नहीं हैं। गाँव के बड़े बूढ़ों को 'काका' या 'दादा' आदि शब्दों से सम्बोधित करना, गाँव के बच्चों के व्यवहारों पर अपने बच्चों की भाँति नियन्त्रण रखना, यह कम पाया जाता है। कुछ थोड़े से परिवारों में इतना स्नेह है कि वे पारिवारिक घनिष्ठता के आधार पर ही अन्य परिवारों से ओष्ण (warm) सम्बन्ध बनाये हुए हैं। गाँव की चक-चक (gossip) का महत्व सामाजिक नियन्त्रण के लिए बहुत अधिक होता है। ग्राम निवासी चक-चक (gossip) करने से डरते हैं क्योंकि दूसरे लोग इसे अनधिकार चेष्टा मानते हैं। अधिकतर व्यक्ति

अपने कार्यों को व्यक्तिगत समझते हैं। वे समुदाय के सदस्यों के हस्तक्षेप को अच्छा नहीं समझते।

अन्य नागरिक प्रभाव--गाँव के समाज में नागरिक जीवन की नकल काफी की जाती है। बातचीत करते समय अंग्रेजी शब्दों का काफी प्रयोग करते हैं। चाय का प्रचार बहुत अधिक है। हर जाति के व्यक्ति चाय पीते हैं और अतिथि का स्वागत चाय से करते हैं। जिस व्यक्ति को कानपुर में नौकरी या व्यापार का साधन मिल जाता है, वह कानपुर चला जाता है। शहर में बसना न केवल आर्थिक दृष्टि से अच्छा समझा जाता है, अपितु सामाजिक प्रतिष्ठा के दृष्टिकोण से भी। इससे नागरिक जीवन के अनुकरण और सामुदायिक जीवन में पारिवारिक (familial) और ओष्ण (warm) सम्बन्धों की कमी मालूम पड़ती है।

कपड़ों के पहनावे और श्रृंगार के स्वरूप पर भी कानपुर का बहुत प्रभाव पड़ा है। पुरुषों के कपड़ों पर नगरों में पहनने वाली भारतीय और पाश्चात्य वेशभूषा का प्रभाव पड़ा है। जिन परिवारों की आर्थिक स्थिति अच्छी है उनमें अधेड़ पुरुष मलमल के कुर्ते, महीन धोती और कोट आदि पहिनते हैं जबकि नई उम्र के कुछ लड़के पैण्ट, बुश शर्ट, कमीज आदि पहिनते हैं। चमरौधा (गाँव का पुरानी डिजाइन का जूता होता है) पहिनने वालों की संख्या नीची जातियों में अधिक है। पुरानी स्त्रियाँ अब भी केवल कमीज और मोटी धोती पहिनती हैं, पर युवा स्त्रियाँ चुस्त ब्लाउज, महीन धोती, पेटीकोट और चोली पहनती हैं। क्रीम, पाउडर और लिपस्टिक लगाने का काफी प्रचार है[5]। पर यह ध्यान में रखने की बात है कि ये परिवर्तन उच्च जातियों और धनी परिवारों में ही देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार अन्य भौतिक वस्तुओं पर भी नागरिक प्रभाव कुछ परिवारों में मेज, कुर्सी 'बेंच, मेजपोश और दीवाल घड़ी, चाय के प्याले, प्याली और रकाबी भी पाई जाती है।

रोगों के विषय में कई प्रकार की धारणायें पाई जाती हैं। छूत की बीमारियों को गाँव से दूर करने के लिए वर्ष भर में एक बार गाँव भर से चन्दा होता है और देवी की पूजा होती है। बकरे का बलिदान होता है और गाँव भर में बताशे बाँटे जाते हैं। गाँव के बूढ़े यह कहते हैं कि पहले जितना चन्दा होता था और जितने उत्साह से गाँव वाले इसमें भाग लेते थे, उसमें कमी हो गई है। इसका कारण आर्थिक भी हो सकता है। ऐलोपैथिक और आयुर्वेदिक इलाज उन परिवारों में होता है जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है। विशेषरूप से ब्राह्मण व कायस्थ परिवारों में आधुनिक इलाज पाया जाता है। आँशिक रूप से इसका कारण आर्थिक स्थिति का अच्छा होना है और आंशिक रूप में कानपुर से घनिऽठ सम्बन्ध है। नीची जाति के लोग बीमारी को दूर करने के लिए गाँव के 'जखई बाबा' (ग्राम देवता) की पूजा करते हैं और घरेलू दवाइयों का प्रयोग करते हैं। शिक्षा और धन का अभाव इसका कारण है।

हमने गाँव के सामाजिक जीवन पर नगर के प्रभाव के कुछ पहलुओं का अध्ययन किया। नागरिक जीवन के संघात के कारण गाँव में काफी समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं। वृद्ध पुरुषों और ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा बहुत कम हो गई है। युवक अपनी मनमानी करना चाहते हैं। नागरिक जीवन के प्रति उनका आकर्षण है। परम्परागत मान्यताओं के प्रति उन्हें अश्रद्धा

है। सामाजिक नियन्त्रण शिथिल हो गये हैं। यही कारण है कि गाँव में अपराध बढ़ रहे हैं। यौन सम्बन्धी और अर्थ सम्बन्धी अपराध काफी मात्रा में हैं। मद्य सम्बन्धी अपराध भी पाये जाते हैं। इस प्रकार सामाजिक विघटन (social disorganization) तेजी से हो रहा है जब कि पुनःसंघटन (reorganization) की प्रक्रिया का पूरी तरह अभाव है।

१–इस शब्द का प्रयोग राबर्ट रेड़फील्ड (Robert Redfield) ने "The Folk Culture of Yucatan" नामक पुस्तक में संस्कृति के संघटन को व्यक्त करने के लिए किया है।

२–सैव, पृष्ठ ३३९।

३–गाँव की पंचायत के पिछले चुनाव के अवसर पर गाँव के एक बूढ़े रेलवे विभाग के रिटायर्ड ब्राह्मण को सभापति बनाने की चर्चा थी। इस पर कम विस्वा वाले ब्राह्मणों ने इसका विरोध किया और अपना एक उम्मेदवार खड़ा कर दिया। इसके फलस्वरूप रिटायर्ड ब्राह्मण ने चुनाव लड़ना उचित न समझा। उन्होंने लेखक से कहा कि 'जब गाँव वाले मेरी इतनी भी इज्जत नहीं करते तो मुझे चुनाव लड़कर कौन आर्थिक लाभ करना है।' अन्त में एक तेली गाँव का सभापति निर्विरोध चुन लिया गया। गाँव का प्रत्येक व्यक्ति अपनी समस्याओं से उलझा रहता है और गाँव के सामूहिक जीवन में भाग लेना अच्छा नहीं समझता। इस उदासीनता के कारण अदालती पंचायत के सरपंच ने (जो जाति के कायस्थ हैं और बी० ए० पास हैं) अपने पुराने सहपाठी तेली को सभापति बनवा दिया। इससे गाँव के राजनीतिक जीवन पर उसका प्रभाव बढ़ गया। यह व्यक्ति खद्दर पहनता है।

विस्वा से कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के परिवारों की सामाजिक स्थिति (social status) को नापा जाता है। २० विस्वा के कान्यकुब्ज सबसे श्रेष्ठ माने जाते हैं। ये नीचे कुल से लड़की ले लेते हैं पर अपनी लड़की नीचे कुल में नहीं देते। इस प्रकार इसके आधार पर कुलीन विवाह (Hypergamy) का जन्म हुआ।

४–पिछली होली के अवसर पर जबकि एक चमार के लड़के ने एक ठाकुर पर रंग डाल दिया तो वहाँ पर काफी तनाव हो गया था, पर कुछ बुजुर्गों के हस्तक्षेप करने के कारण संघर्ष नहीं हो पाया।

५–दस साल की एक लड़की को लेखक ने लाल स्याही की टिकिया ओठों पर लगाते देखा क्योंकि उसकी भाभी अपनी लिपस्टिक उसे नहीं देती थी।

भारत में ग्राम्य अध्ययन

कृपाशङ्कर माथुर

वैज्ञानिक विषयों में भी फ़ैशन होते हैं; इन्हें धारायें कहते हैं। सामाजिक नृशास्त्र का सबसे नया फैशन, विशेषकर भारत में, ग्रामीण अनुसन्धान है। भारतीय ग्राम समुदाय को केन्द्रविन्दु बनाकर गत दस वर्षों में विभिन्न प्रयोजनों से विभिन्न प्रकार के गवेषणात्मक अध्ययन हुए हैं।

ग्राम में यह अभिरुचि नई नहीं है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में कतिपय बृटिश अधिकारियों ने शासन का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि भारत मुख्यतः ग्रामप्रधान देश है और भारत को समझने या विकसित करने के लिए भारतीय ग्रामों का पहले अध्ययन करना और उन्हें समझना आवश्यक है। परन्तु उनकी इन दलीलों पर ध्यान नहीं दिया गया और भारतीय ग्राम समुदायों पर बेडेन-पावेल के दो ग्रन्थों और उसी प्रकार के कुछ अन्य ग्रन्थों को छोड़ कर हमारे पास एतद्विषयक उस काल का कोई महत्वपूर्ण साहित्य नहीं है। योरोपियन जिस भारत को देखते थे और जिससे अपना सम्बन्ध रखते थे वह नगरों, कस्बों और शिक्षित मध्यमवर्ग का भारत था। एक प्रकार से बेडेन-पावेल के ग्रन्थ भी विषय का स्पर्शमात्र करते हैं और उनमें ग्रामीण समस्याओं की तह में जाने की कोई चेष्टा नहीं की गई है।

गाँवों और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास में गाँवों के महत्व की ओर ध्यान आकर्षित करने का श्रेय हमारे राष्ट्रपिता को है। गांधीजी ने बतलाया कि देश की ९०% से अधिक जनसंख्या वाले उपेक्षित ग्रामीण ही खाद्य पदार्थों का उत्पादन करते और उद्योगों को चलाने के लिए श्रमशक्ति की पूर्ति करते हैं। ग्रामीण आर्थिक विकास, साक्षरता तथा सामाजिक सुधारों पर बल दिया गया। कई अर्थशास्त्रियों और समाज सुधारकों ने हमारे गाँवों के बारे में लिखा। उनमें से कुछ की रचनायें आर्थिक पड़तालों से प्राप्त आँकड़ों पर आधारित थीं। परन्तु अधिकांश रचनाओं में भारतीय ग्रामीण की दुरवस्था, उसके ऋणभार, उसकी अन्धविश्वास वृत्ति, उसकी धर्म भावना जो यदाकदा कट्टरता का रूप धारण कर लेती थी, जाति व्यवस्था और जनता पर उसके गहरे प्रभाव, अस्पृश्यता और किसानों पर जमींदारों के अत्याचार सदृश विषयों पर भावुकता तथा उत्तेजनापूर्ण विवरण ही रहते थे।

ये रचनाएँ फिर भी अधिकारी वर्ग और समाज वैज्ञानिक का ध्यान यथेष्ट रूप से गाँवों की ओर आकर्षित करने में सफल हुईं। इस प्रकार १९४७ में भारत के स्वतंत्र होने पर राष्ट्रीय सरकार ने जनता की उन्नति, गाँवों का विकास तथा जनसाधारण एवं देश की स्थिति में सुधार करने की कामना प्रकट की। परन्तु देश के विभिन्न भागों में ग्राम समुदायों

की अत्यधिक जटिल सामाजिक स्थिति को देखकर नियोजक परेशान थे। सम्भवतः इस स्थिति के कारण ही ग्रामीण अनुसन्धान समाज वैज्ञानिक के पल्ले पड़े।

भारतीय गाँवों के जो अध्ययन अर्थशास्त्रियों और समाज सुधारकों ने किए उनकी प्रमुख कमियों में एक यह थी कि उन्होंने भारतीय गाँवों के प्ररुपों (पैटर्न्स) की विविधता को पूरे तौर से नहीं समझा। उनके दृष्टिकोण से सभी गाँव एक समान थे या थोड़े-बहुत असमान थे—सभी गाँव समुदाय कृषिप्रधान, आर्थिक रूप से दरिद्र और टेक्नॉलॉजी की दृष्टि से पिछड़े हुए थे। वे सब जाति व्यवस्था और परम्परा के आधीन थे। बस प्रायः इन बातों तक ही उनकी अभिरुचि थी। भाषा, समाज और संस्कृति की विभिन्नताओं में उनकी बिलकुल अभिरुचि न थी। किन्हीं लोगों के बीच बहुत समय तक और घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित कर जो सच्चा और वास्तविक वर्णन प्रस्तुत किया जाता है उसकी इन अध्ययनों में कमी थी। और समाज नृशास्त्री की गवेषणा की यही सबसे बड़ी विशेषता है। इस समय तक प्रजाति, भाषा, संस्कृति तथा सामाजिक संघटन की विविधताओं से युक्त भारत जैसे विशाल देश के ग्राम समुदायों की जटिल समस्या के अध्ययन के लिए समाज वैज्ञानिक ने यथेष्ट रूप से साधनों का परिमार्जन कर लिया था। अभी तक नृशास्त्री कबीलों या छोटे-छोटे सरल समाजों अथवा सूक्ष्म रूप से स्वतंत्र सामाजिक प्रणालियों के अध्ययन में रत थे। छोटाई, ढाँचे की सरलता और सामाजिक स्वायत्त के कारण किसी कबायली समुदाय का सर्वागीण अध्ययन अकेला एक अन्वेषक कर सकता था। ऐसा करने से उसे मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की क्रियाविधि का महत्वपूर्ण अन्तर्दर्शन प्राप्त हो जाता था। माइक्रोकॉस्मिक क्षेत्र अध्ययनों के अनुभव से उसे सामाजिक क्रियाओं के अन्तरसम्बन्ध और अन्तरनिर्भरता का दिग्दर्शन भी हो जाता था। इस प्रकार क्षेत्रीय अनुसन्धान और वैज्ञानिक साधना के प्रशिक्षण से वह निज को ग्रामीण अनुसन्धान के योग्य बना चुका था।

भारत में प्रथम महत्वपूर्ण ग्राम अध्ययन १९५५ म डा० श्यामाचरण दुबे ने प्रकाशित किया। उनका 'इण्डियन विलेज' हैदराबाद नगर के समीप एक तेलंगाना के गाँव का 'वर्णनात्मक वृत्तान्त' है। यह अनुसंधान डा० दुबे के नेतृत्व में विशेषज्ञों के एक दल ने किया—यह "उस्मानिया विश्वविद्यालय" द्वारा आयोजित समाज सेवा विस्तार योजना तथा समाजशास्त्र एवं नृशास्त्र विभाग द्वारा आयोजित एक समुदाय अध्ययन योजना का परिणाम" था। इस अध्ययन में उन्होंने रेडफ़ील्ड द्वारा प्रतिपादित 'कृषक समाज' के प्रत्यय (कांसेप्ट) को भारतीय स्थिति में लागू किया है और मेक्सिको के गाँवों के अध्ययन में रेडफ़ील्ड और ऑस्कर लुइस द्वारा प्रयुक्त अनुसन्धान प्रविधियों (टेक्नीक्स) का प्रचुर उपयोग किया है।

१९५१-५४ का काल भारत में उस प्रकार के ग्राम अध्ययनों के लिए चरम काल था जिस प्रकार के अध्ययनों का प्रतिनिधित्व डॉ० दुबे की पुस्तक करती है। मेरे विचार से यह एक प्रथम कोटि की पुस्तक है यद्यपि मुख्य रूप से जातिवृत्तात्मक है। इन वर्षों में भारत के सभी भागों में अनेक भारतीय और विदेशी समाज नृशास्त्रियों एवं ग्राम्य समाजशास्त्रियों ने गाँवों में अनुसंधान किए। इनसे सम्बन्धित कुछ पूर्व विवरण संक्षिप्त जातिवृत्तामक प्रबन्धों के रूप में १९५१-५२ में 'इक्नॉमिक वीक्ली' में प्रकाशित हुए। बाद में

संशोधित होकर ये पश्चिमी बंगाल राजकीय मुद्रणालय द्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। ('इण्डियाज़ विलेजेज़', सम्पादक एम्० एन्० श्रीनिवास)

इस प्रकार का एक संग्रह डा० डी० एन मजूमदार के सम्पादन में उत्तर प्रदेशीय नृवृत्त एवं लोक संस्कृति सभा द्वारा प्रकाशित किया गया। ('रूरल प्रोफाइल्स', लखनऊ, १९५५)

वर्णनात्मक ग्राम्य जातिवृत्त की इस श्रेणी के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश के सेनापुर गाँव में किए गए अनुसन्धानों के आधार पर (यदाकदा श्री रुद्रदत्त सिंह के सहयोग से) प्रो० मॉरिस ई० ऑपलर द्वारा प्रकाशित कतिपय प्रबन्धों को सम्मिलित किया जा सकता है।

प्रो० एम्० एन्० श्रीनिवास ने भारतीय ग्राम्य अध्ययनों में ब्रटिश समाज नृशास्त्रियों द्वारा विकिसित उपकरणों एवं प्रत्ययों का प्रथम बार उपयोग किया।उ नके एक मैसूर के गाँव के अध्ययन और डॉ० कैथलीन गफ़ के एक तंजौर के गाँव के विश्लेषण ('विलेज इण्डिया' में, सम्पादक मैकिम मैरियट, १९५५) से ग्राम समुदाय एक 'संरचनात्मक प्रणाली' (स्ट्रक्चरल सिस्टिम) प्रतीत होता है।

इससे कुछ भिन्न प्रकार के ग्रामीण अनुसंधान के अन्तर्गत डॉ० ऑस्कर लुइस की कृति 'ग्रूप-डाइनेमिक्स इन ए नॉर्थ इण्डियन विलेज' आती है। १९५२-५३ में योजना आयोग के कार्यक्रम मूल्यांकन संघटन द्वारा आयोजित एक अग्रिम अनुसंधान योजना पर यह आधारित है। इसमें एक ग्राम्य समुदाय में अन्तरजातीय गुटों (फैक्शंस) की समस्या का अध्ययन करने की चेष्टा की गई है और ग्रामीण समस्याओं के अध्ययन में समाज नृशास्त्री किस प्रकार का काम कर सकते हैं यह उसका एक उत्तम नमूना है।

इससे मिलता-जुलता महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य इसी समय (१९५२–५५) कॉर्नेल भारत (लखनऊ) अनुसंधान कार्यक्रम के तत्वावधान में हुआ। उत्तर प्रदेश के तीन गाँवों में जाति संघटन तथा अन्तरजातीय सम्बन्धों में संवहन (कम्युनिकेशन) के योग पर नृशासत्रीय अन्वेषकों के तीन दलों ने काम किया—पश्चिमी उत्तर प्रदेश के एक गाँव में डा० दुबे के निर्देशन में, लखनऊ के एक गाँव में प्रो० धीरेन्द्र नाथ मजूमदार के निर्देशन में, और दुद्धी के एक गाँव में प्रो० ऑपलर के निरीक्षण म। १९५६ में कॉर्नेल-लखनऊ योजना की समाप्ति पर बाद के दोनों केन्द्रों का काम कार्यक्रम मूल्यांकन संघटन ने सँभाला और उसका निर्देशन एवं निरीक्षण प्रो० मजूमदार ने किया। पश्चिमी उत्तर प्रदेश की योजना तब तक पूरी हो चुकी थी। डॉ० दुबे ने हाल (१९५८) में अपनी पुस्तक 'इण्डियाज़ चेंजिंग विलेजज़' प्रकाशित की है जो पश्चिमी उ० प्र० के गाँव में किये गये अध्ययन पर आधारित है। मध्य उत्तर प्रदेश के मोहना पर डॉ० मजूमदार की पुस्तक 'कास्ट ऐण्ड कम्युनिकेशन इन एन इण्डियन विलेज' प्रेस में है और दुद्धी का विवरण भी प्रकाशनार्थ तैयार है।

१९५६ तक भारत में ग्राम्य अध्ययनों का यथेष्ट प्रचार हो चुका था और सम्भवतः जटिल ग्राम्य समुदायों का अध्ययन करने की नृशास्त्रियों-समाजशास्त्रियों की क्षमता का परिचय योजना आयोग को मिला। सारे देश में नियोजन के द्वितीय चरण के आरम्भ के पूर्व भारतीय ग्राम्य समुदायों के सामाजिक अन्वेषण के महत्व को भी सम्भवतः उहोंने समझा।

ग्रामीण क्षेत्रों में सामुदायिक विकास योजना के कार्य (रोल) अथवा टेक्नालॉजी, भारी उद्योगों या अनेक उद्देश्यों वाली योजनाओं के परिणामस्वरूप हुए परिवर्तनों के मूल्यांकन के लिए अधिकांश विश्वविद्यालयों के नृशास्त्र तथा समाजशास्त्र विभागों को समुदाय-सर्वे सौंपे गए। इनमें से कुछ 'क्रिया-अनुसंधान' थे अर्थात् अन्वेषक ने स्वयं सामाजिक क्रिया में भाग लिया और जिन परिवर्तनों को लाने में उसने भी सहायता की उनका अध्ययन किया।

शुद्ध शास्त्रीय दृष्टि से भी ग्राम्य विश्लेषण और ग्राम्य समुदायों की संरचना के समाजशास्त्रीय अन्वेषण में अभिरुचि बढ़ रही है। अनेक नृशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों ने वर्णनात्मक तथा विषलेषणात्मक दोनों प्रकार के ग्राम्य समुदाय अध्ययन किए। इनमें उल्लेख्य हैं उड़ीसा के एक गाँव में एफ० जी बेली का अर्थशास्त्रीय अध्ययन तथा राजस्थान के एक गाँव पर जी० मॉरिस कंर्स्टेयर्स की पुस्तक। अप्रकाशित अनुसंधानों में बम्बई के गाँवों में आधुनिक विचारों के सांस्कृतिक संवहन की समस्याओं पर वाई० वी० दामले के अनुसंधान तथा कानपुर के एक गाँव में कैलासनाथ शर्मा द्वारा सांस्कृतिक परिवर्तन के अध्ययन को सम्मिलित किया जा सकता है। इसी प्रकार के अध्ययन मालवा के एक गाँव में सगे-सम्बधियों (किनशिप) और सामाजिक संघटन पर एड्रियन मेयर ने, राज-स्थान के एक गाँव में ब्रजराज चौहान ने, और मालवा के एक गाँव में जाति तथा धार्मिक संस्कारों पर लेखक ने किए।

गिलिन ने अनुसन्धान के लिए जो तीन आवश्यकतायें बताई हैं उनमें से कोई भारत में प्राप्य नहीं हैं। इत बात को ध्यान में रखते हुए दस वर्ष से कम समय में किया गया काम निश्चय ही महत्वपूर्ण है। हमारे पास (१) न तो अधिक और प्रचुर मात्र में धन है, (२) न सुप्रशिक्षित नृशास्त्रियों की संख्या अधिक है, और (३) न किसी सर्वोपरि एवं समन्वित अनुसन्धान योजना के अन्तर्गत अन्य सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक विज्ञानों के विशेषज्ञों का सहयोग ही उपलब्ध है। तीसरी बात निश्चय ही सबसे अधिक खेदजनक है क्योंकि सामाजिक अनुसंधान की अभिवृद्धि के लिए हमारे समाजवैज्ञानिक कभी भी परस्पर सहयोग नहीं करते। मुख्यत: इसी कारण से ग्राम्य अनुसंधान में रत भारतीय समाजशास्त्री एवं समाज नृशास्त्री एकत्रित हो कर विचार-विनिमय तथा ऐसे अध्ययनों के लिए वाञ्छित सैद्धान्तिक तथा विधिवैज्ञानिक प्रत्ययों पर विचार करने में असमर्थ रहे हैं। देश के विभिन्न भागों में ग्रामजनों की जीवनयापन की स्थिति तथा सामाजिक मूल्यों के स्वतंत्र अनुसन्धानों का अपना अलग महत्व है और उनसे प्रशासकीय नियोजक तथा शास्त्रीय ग्राम्य विश्लेषक दोनों लाभ उठा सकते हैं। परन्तु जब तक हम अपने अध्ययनों में कुछ प्रत्ययों के प्रयोग के सम्बन्ध में एकमत नहीं होते तथा उस दृष्टि से अपने अनुसंधानों को नहीं ढालते, तब तक हमारे ग्राम्य अध्ययन अछूते सर्वेक्षण मात्र रह जायँगे और उनसे कोई सुव्यवस्थित, तुलनात्मक अध्ययन नहीं किया जा सकेगा जो समाज वैज्ञानिक विधि का सार है।

रूपकुण्ड-रहस्य

डी० एन० मजुमदार

उत्तर प्रदेश के गढ़वाल ज़िले में १७-१८ हजार फीट की ऊँचाई पर हिमालय की शृंखलाओं के मध्य स्थित हिमाच्छादित झील रूपकुण्ड के पास जो अस्थिढेर पाया गया वह हाल के वर्षों में सबसे अधिक रोमांचकारी और ऐतिहासिक महत्व की खोज थी। गढ़वाल के गज़ेटियरों में रूपकुण्ड का बिलकुल उल्लेख नहीं है यद्यपि उनमें इस क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति का विशद वर्णन है। यह क्षेत्र नन्दा देवी के शिखरों से घिरा हुआ है। रूपकुण्ड में बारहों मास हिम जमा रहता है। इसका क्षेत्रफल लगभग एक एकड़, परिधि ५४० फीट और व्यास १६२ फीट है। इसका अधिकांश भाग बड़े-बड़े पत्थरों से भरा हुआ है जो इस घाटी के चारों ओर स्थित शृंखलाओं से टूट-टूट कर झील में गिरे हैं। रूपकुण्ड रूपगंगा का उद्गम-स्थल (गढ़वाली हर नदी को 'गंगा' कहते हैं) और त्रिशूल पर्वत के आधार पर स्थित है। त्रिशूल नन्दा देवी समूह की ही एक चोटी है और पूर्व देशान्तर ७९°४५' तथा उत्तर अक्षांश ३०°१८' के मध्य स्थित है। त्रिशूल के अतिरिक्त नन्दा देवी समूह की अन्य चोटियाँ हैं दुनागिर (२३,१८४ फीट), नन्दाकोट (२२,५३० फीट) और चंगवांग (२२,५१६ फीट)। त्रिशूल शिखर त्रिशूलाकार है और भगवान शंकर से उसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। यह तीन चोटियों को मिला कर वना है जो एक सीधी रेखा में क्रम से सम्बद्ध हैं और जिनमें सबसे ऊँची चोटी २३,४०६ फीट ऊँची है। नन्दा देवी तल्ला पैनखण्डा परगना के अन्तर्गत उसी नाम की पट्टी में ८०° पूर्व देशान्तर और ३०°२०' पूर्व अक्षांश पर स्थित है।

पूर्वोत्तर रेलवे की एक शाखा के अंतिम स्टेशन काठगोदाम से बस का एक मार्ग रानीखेत, कौसानी, गरुड़-बैजनाथ होता हुआ डांगोली गया है। यह दूरी लगभग १२८ मील है। ६ हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित रानीखेत से यह मार्ग पहाड़ के चक्करदार रास्तों से लगातार नीचे जाता हुआ दो हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित गरुड़-बैजनाथ को पहुँचता है। गरुड़-बैजनाथ एक तीर्थ है जहाँ प्रति वर्ष मुख्य हिन्दू पर्वों पर और संस्कारों के लिए बड़ी संख्या में यात्री आते हैं। गरुड़ से डांगोली तक लगातार चढ़ाई है। डांगोली से रूपकुण्ड की चढ़ाई उतनी क्रमिक नहीं। ग्वालदम, लोहाजंग और कैलवाविनायक में चढ़ाई बहुत कठिन है और प्रायः सीधे पहाड़ पर चढ़ना पड़ता है। देबाल में और बगरीगाढ़ और वाण के मध्य कुछ नीचे जाना होता है जिससे थकान मिट जाती है। वाण पहुँचने के लिए यात्रा के अंतिम चरण में जो कठिनतम चढ़ाई करनी पड़ती है उससे कुशल पर्वतारोहियों के भी छक्के छूट जाते हैं। रूपकुण्ड के मार्ग में देबाल या देवलगढ़ पहला पड़ाव है। देवाल उत्तर में अलकनन्दा, दक्षिण में चाँदपुर और चाँदकोट परगनों, पूर्व में चाँदपुर परगना तथा पश्चिम

में अलकनन्दा और परगना बारहश्याम से घिरा हुआ है। देबाल प्राचीन काल में सामन्ती सरदारों का शासनकेन्द्र था। इस गाँव के समीपवर्ती खेतों में प्रागैतिहास-इतिहास संधिकाल तथा ऐतिहासिक काल के अनेक उपकरण एवं हिन्दू और मुस्लिम कालों के सिक्के पाए गए ह। पूर्व की ही भाँति देबाल आज भी एक व्यापारिक केन्द्र है और अन्न, ऊन, नमक, मिट्टी के तेल, वन्य-ओषधियों के व्यापार से लोगों ने तिब्बत और गंगा की घाटी के प्राचीन व्यापारिक सम्बन्ध को स्थिर रखा है। वन्य-ओषधियों का बहुत बड़ी मात्रा में निर्यात होता है। डांगोली से चढ़ते हुए ६ हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित ग्वालदम पहुँचते हैं। नन्द-प्रयाग और नरायनवगर को जानेवाले मार्गों के चौराहे पर ग्वालदम स्थित है। यहाँ चाय का एक बगान है और आजकल सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत यहाँ स्फूर्ति के साथ लोगों के जीवन को विकसित करने के लिए प्रयत्न किए जा रहे हैं। देबाल से बगरीगाढ़ १०-११ मील दूर है। इतनी दूर न तो चढ़ाई खलती है न उतरना। परन्तु बगरीगाढ़ से वाण के मार्ग में इस सारी यात्रा की सबसे कठिन चढ़ाई लोहाजंग के पास करनी पड़ती है। वाण ८,००० फीट ऊँचा है। रूपकुण्ड के मार्ग में यह अंतिम गांव है जहाँ लोग निवास करते हैं। वाण से पातरनच्योंणी (वेश्याओं के नाचने के कारण इस शिखर का ऐसा नाम पड़ा) जाने के दो मार्ग हैं, पहला पलबाला हो कर और दूसरा बैदिनी और आली बुगियाल होकर। बैदिनी(११,५००फीट) से रूपकुण्ड तक घास या बुगियाल के अतिरिक्त अन्य कोई पेड़-पौदे नहीं हैं, ऊँची-ऊँची नंगी चोटियाँ हैं और सीधे उठे हुए विशाल शिखर। कैल्वाविनायक में कुछ चौड़ा स्थान है और इसे स्थानीय जन रूपकुण्ड का प्रवेशद्वार कहते हैं। खुले आकाश के नीचे यहाँ काले प्रस्तर की गणेश की प्रतिमा विद्यमान है। इसे ही कैल्वाविनायक कहते हैं। यह वरदान देते हैं और रूपकुण्ड, शीलसमुद्र या और आगे जहाँ भी जाना हो अंतिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए नारियल की भेंट से इनको तुष्ट करना परम आवश्यक है। कैल्वाविनायक से कुछ सौ फीट नीचे आ कर बग्गूबाशा और हूणियाठोर पहुँचते हैं। हूणियाठोर में ही अंतिम पड़ाव डालना होता है। रूपकुण्ड जानेवालों के लिए यह स्थान बहुत सुविधाजनक है। यहाँ से रूपकुण्ड पहुँचने के लिए दो हजार फीट चढ़ना पड़ता है और इस भाग में स्थायी रूप से हिम जमा रहता है।

१९५५ के बहुत पहले रूपकुण्ड के अस्थिढेर के बारे में अफवाहें थीं और इन अस्थियों के असाधारण आकार की होने के कारण स्थानीय जन कहते थे कि ये भूत-प्रेतों की हैं। इस प्रकार रूपकुण्ड एक भुतही झील बन गया। स्थानीय जन किंवदन्तियों और गप्पों में रुचि रखते हुए भी अत्यधिक अन्धविश्वासी होने के कारण इन अस्थियों का उल्लेख भी नहीं करते थे।

१९०५ में डॉ० लाँगस्टाफ त्रिशूल विजय कर चुके थे और १९०७ में वह इस क्षत्र में दोबारा आए। वह देखना चाहते थे कि पश्चिम की ओर से किन मार्गों से त्रिशूल पहुँचा जा सकता है। वह नन्दाघूंटी के पूर्व में होमकुण्ड के ऊपर हुमकुनी दर्रे को पार कर त्रिशूल के सर्वोच्च शिखर के पश्चिमी पार्श्व में एक हिमाच्छादित श्रेणी पर पहुँचे। ऋतु द्वारा पराजित होकर वह नन्दाकिनी घाटी लौट आए और वहाँ से डगवाल श्रेणी और बधान के बुगियाल पार कर पिण्डार नदी और अल्मोड़ा पहुँचे। वह रूपकुण्ड के पास से अवश्य गुजरे होंगे

और उन्होंने झील के बारे में अवश्य सुना होगा; क्योंकि उन्होंने उल्लेख किया है कि इस स्थान पर देवस्थान पहुँचने के पूर्व तीर्थयात्रियों ने अपने जूते फेंक दिए थे । परन्तु स्पष्टतः डॉ० लांगस्टाफ ने स्वयं झील या वहाँ के विशाल अस्थिढेर को नहीं देखा था । उनके बाद १९४२ तक यहाँ और किसी दल की यात्रा का उल्लेख नहीं मिलता ।

मि० आर० वी० वर्नेंड ने, जो बाद में इण्डियन सिविल सर्विस में आ गए थे और जो आजकल ऑक्सफर्ड के सेण्ट पीटर्स हॉल के वर्सर हैं, मुझे लन्दन में बताया कि वह १९४१ से १९४६ तक गढ़वाल के डिपुटी कमिश्नर थे और १९४२ में उन्हें रूपकुंड के अस्थिढेर की सूचना मिली थी । इसकी छानबीन करने के लिए उपयुक्त अवसर न होने से उन्हों ने केवल सूचना देने वालों के वक्तव्य लिखा लिए थे । वास्तव में १९४२ में वन विभाग के एक रेंजर श्री एच० के० मधवाल ने श्री वर्नेंड को रूपकुण्ड-सम्बन्धी सूचना दी थी । उनकी खोज का महत्व यह है कि प्रथम बार एक अंधविश्वास-रहित और जिज्ञासु शिक्षित व्यक्ति ने रूपकुण्ड की दुर्घटना की वास्तविकता को प्रत्यक्ष रूप से समझने की चेष्टा की । १९५५ तक फिर इन अस्थियों के बारे में कुछ नहीं सुना गया । उस वर्ष श्री मधवाल ने वन विभाग के उप-मंत्री श्री जगमोहनसिंह नेगी को जो स्वयं गढ़वाली हैं, इनके बारे में सूचित किया । जिले के इतिहास में रुचि रखने के कारण वह वाण गए । उन्होंने सम्बन्धित लोकसाहित्य का संग्रह किया और झील तथा अस्थिढेर के बारे में प्राप्त सूचना का विवरण प्रकाशित किया । उन्होंने एक मत यह व्यक्त किया कि काश्मीरी सेनानायक ज़ोरावर सिंह १८४१ में भारतीय सीमा के पार तिब्बतियों द्वारा जब मारा गया तो उसके सैनिक इस मार्ग से आये और ये अस्थियाँ उनकी ही हैं । समाचार पत्रों में हलचल मच गई, जनता का भी कुतूहल बढ़ा । **रायटर** और **स्टेट्समैन** ने अपने प्रतिनिधियों को झील देखने के लिए भेजा और जिस वन अधिकारी ने अस्थिढेर के बारे में पहले सूचना दी थी उसके साथ उन्होंने रूपकुण्ड पहुँचने के लिए साहस-पूर्ण प्रयत्न किया । इन प्रेस प्रतिनिधियों के विवरण समाचारपत्रों के मुख पृष्ठों पर छपे और रूपकुण्ड का रहस्य और गहरा हो गया । **स्टेट्समैन** के श्री महेशचन्द्र और वन अधिकारी श्री मधवाल अपने साथ कुछ खोपड़ियाँ, जवड़े, लम्बी-लम्बी अस्थियाँ और अनेक उपकरण, चप्पलें, मनके और चूड़ियाँ ले आए । इन वस्तुओं को परीक्षार्थ लखनऊ विश्वविद्यालय के मानवविज्ञान विभाग को दे दिया गया । दूसरी ओर प्रेस में इसकी चर्चा होती रही और जनसाधारण तथा विद्वान् समान रूप से यह जानने के लिए अत्यधिक कुतूहल प्रदर्शित करते रहे कि रूपकुण्ड की दुर्घटना का वास्तविक इतिहास क्या है और जो लोग यहाँ नष्ट हुए वे किस प्रजाति के थे । यह विवाद बाद तक चलता रहा, कभी-कभी जान-बूझ कर वैज्ञानिक स्तर गिराया गया और विरोधी मत व्यक्त किए गए, जो न केवल तथ्यों से मेल नहीं खाते थे वरन् सर्वथा असंगत थे और जिन्होंने समस्या को सुलझाने के वजाय और अधिक उलझा दिया ।

रूपकुण्ड के सम्बन्ध में गढ़वाल के लोकसाहित्य में थोड़ा-बहुत उल्लेख मिलता है । गढ़वाल के एक विख्यात सज्जन ने मुझसे कहा कि सभी महत्वपूर्ण घटनाओं और ऐतिहासिक तथ्यों के विषय पर चटपट लोकगीत रचने में गढ़वाली बड़े निपुण होते हैं और उनके सच्चे और वास्तविक चित्रण के कारण हम उन पर विश्वास कर सकते हैं । जनसाधारण को वे दन्तकथायें या उनके विस्तृत विवरण याद नहीं हैं जिन्हें हम यहाँ उद्धृत कर रहे हैं । ये

कथायें विभिन्न गाँवों से ऐसे वृद्ध पुरुषों से एकत्रित की गई हैं जिनकी स्मरणशक्ति स्वयं धूमिल हो चली है। कभी-कभी कुछ उत्साही व्यक्ति अपनी कल्पना के सहारे ही इन कथाओं की सृष्टि कर डालते हैं। कुछ लोगों का विचार है कि रूपकुण्ड के अस्थिढेर से इन दन्तकथाओं का कोई सम्बन्ध नहीं है। इनमें जिस दुर्घटना का उल्लेख हुआ है वह पहले हुई और कालान्तर में उसको लेकर ये कथायें रची गईं, अथवा ये कथायें पहले से प्रचलित थीं और बाद में रूपकुण्ड की कहानी उनसे जोड़ दी गई। यह प्रश्न हल नहीं होने का, तथापि इन दन्तकथाओं को उद्धृत करना समीचीन है। रूपकुण्ड के रहस्य पर प्रकाश डालने वाली अनेक दन्तकथाओं से मैंने दो चुनी हैं क्योंकि इन्हें अतिवृद्ध व्यक्तियों ने सुनाया है जो जीवन की साँझ में हैं।

पहली कथा इस प्रकार है। कन्नौज के राजा और उसके राज्य पर देवी भगवती का कोप था। अच्छा धान बोने पर सोला उगता। लोग जब अच्छे गेंहूँ की उपज की आशा लगाए बैठे थे, खेतों में गोबरी पैदा हुई। चने की फसल जब लोग काटने गए तो उन्हें केवल काले सूखे छिलके मिले। जौ के खेतों में घास-पतवार का साम्राज्य हो गया। लोहाजंग के प्रदेश में बर्फीली हवा वेग से चलती तो लगता लोगों के कान फट जायँगे। बैदिनी में विषाक्त धुयें व्याप्त हो गए जो शिर में भीषण पीड़ा उत्पन्न कर देते। गिंगटोली के पर्वत हिमाच्छादित हो गए। उन पर लोगों का चलना असम्भव हो गया। गायें पँड़वों (भैंस के बच्चों) को जन्म देतीं और भैंसें बछड़ों को। इसी प्रकार भेंड़ों से मेमने उत्पन्न होते और बकरियों से भेंड़ों के बच्चे। मनुष्य की सन्तानें भी लुंजपुंज शरीर लेकर धरती पर आतीं। जल रक्तिम वर्ण का हो गया। देवी के कोप से सारे लोग हर प्रकार से संतप्त थे। कन्नौज के राजा जसदल ने विद्रूप के साथ प्रजा से कहा, "देवी भगवती के दर्शनार्थ तुमने तीर्थयात्रा नहीं की, उसी का यह परिणाम है। चलो, हम तीर्थयात्रा के लिए तुरन्त कूच करें।"

प्रजा के परामर्श से राजा ने भोजपत्र के छत्र निर्मित करने की आज्ञा दी। लोगों में अपूर्व उत्साह था। राजा की आज्ञा से उन्होंने नए परिधान बनवाए और सारे गन्दे वस्त्रों को स्वच्छ किया। भोजपत्र के छत्र भी तैयार हो गए।

सभी तैयारियाँ समाप्त होने पर वे तीर्थयात्रा पर चल पड़े। ढोला समुद्र, मावाभवर और पित्वाभूवा होते हुए उनका दल चामू ढाँटा राज्य में पहुँचा। वहाँ से वे दिल्ली गए और फिर हलद्वानी, सोमेश्वर, बैजनाथ (सीरकटुर), ग्वालदम, लोहाजंग होते हुए बैदिनी पहुँचे। बैदिनी में उन्होंने कुछ दिन ठहर कर देवी भगवती के मंदिर में पूजा की और बलि दीं। 'जात्रा' बैदिनी से पातरनच्योंणीं पहुँची और वहाँ से गिंगटोली जो रूपकुण्ड का आधार है। यहाँ कन्नौज की रानी को प्रसव वेदना हुई, अतः सारी 'जात्रा' को रुकना पड़ा। घने बादल छा गए, कुहरा चारों ओर फैल गया और शीघ्र ही गिंगटोली अन्धकार में डूब गया। यहाँ पर एक चट्टान के आश्रय में वल्पा रानी ने एक शिशु को जन्म दिया। वह स्थान आज कल बग्गूबाशा के समीप वल्पा-सुलेड़ा के नाम से प्रसिद्ध है (सुलेड़ा=प्रसूतिगृह)।

जब देवी भगवती को अपने वासस्थान के अन्दर एक शिशु के जन्म का समाचार मिला, उन्होंने अपने भृत्य हंस को पता लगाने के लिए भेजा कि वे लोग कौन थे जिन्होंने उनके पवित्र स्थान में प्रवेश कर उसे अपवित्र किया था। हंस ने गिंगटोली में जाकर इस

यात्रीदल के विषय में सभी बातें जान लीं । उसने वापस कैलाश में जाकर भगवती को बतलाया कि कन्नौज के राजा और रानी वहाँ पर अंगरक्षक दल के साथ हैं और रानी ने एक शिशु को जन्म दिया है । उसने देवी को यह भी सूचित किया कि वल्पा रानी देवी भगवती की 'धरम' बहिन हैं । तब तक भगवती के एक अन्य सेवक देवसिंह ने आकर कहा, "माता, तुम्हारा कैलाश अपवित्र हो गया ।" देवी ने अपने दो दूतों रनखल और भौरियाल को आज्ञा दी कि वे राजा, रानी और उसके साथियों को वापस कन्नौज भेज दें । दूतों ने आज्ञापालन में कुछ आनाकानी दिखाई क्योंकि वे राजा के सहस्र अंगरक्षकों से डर रहे थे । भगवती ने तब आज्ञा दी कि राजा के दल पर पत्थर बरसाओ । यह भी उन्होने स्वीकार न किया ।

फिर भगवती ने अपने पुराने भृत्य लाटू को बुलवा कर कहा कि मेरा वासस्थान अपवित्र हो गया है, अतः तुम मेरे पवित्र स्थान का अपमान करनेवाले राजा, रानी और उनकी सेना को नष्ट कर दो । लाटू ने उत्तर दिया कि राजा और रानी आपके अतिथि हैं, अतः उनका उचित सत्कार करना चाहिए न कि उन्हें नष्ट कर दिया जाय । परन्तु भगवती अपनी इच्छा पर दृढ़ थीं और उन्होंने लाटू को आज्ञापालन करने पर कई बातों का लालच दिलाया । वह बोलीं, "वत्स, मैं तुमको दैवी शक्ति से सम्पन्न कर दूँगी । राजा और रानी का काम तमाम कर दो तो मैं तुम्हें अपने दाहिने हाथ के समीप स्थान दूँगी और भक्तगण तुम्हारी भी वन्दना करेंगे । प्रति वर्ष वैदिनी में तीर्थयात्री तुम्हें भोजन और उपहार चढ़ाया करेंगे । बड़े 'यती' में जब मेरे भक्त 'ब्राह' आयेंगे, उनमें से प्रत्येक तुम्हें कम से कम एक 'तिमासी' (तीन आने का एक सिक्का) भेंट करेगा । इन अवसरों पर मेरी सब बहनों की स्मृति में डोले निकलेंगे । मैं वैदिनी में तुम्हारी पूजा के लिए आज्ञा निकाल दूंगी । यदि तुम्हारे सेवक कोई वस्तु बलपूर्वक छीन लेंगे तो वह पाप नहीं माना जायगा ।"

इन सब लालचों के बावजूद राजा और रानी की हत्या के लिए लाटू तैयार नहीं हो रहा था । भगवती ने फिर इन शब्दों के साथ उसे मनाना चाहा, "मैं तुम्हारे पैर पड़ती हूँ । भविष्य में तुम मेरे मुख्य गण रहोगे और सभी उत्सवों में तुम्हें ही मेरे आगमन को घोषित करने का सम्मान प्राप्त होगा । जाओ, अब चले जाओ । यतियों (ब्राह्मण भक्तों) को आने और विश्राम करने दो, परन्तु अन्यों को नष्ट कर दो क्योंकि उन्होंने मेरे पवित्र कैलाश को कलुषित किया है । मेरे विश्वस्त सेवक, अविलम्ब जाओ क्योंकि आधी सेना रूपकुण्ड पहुँच चुकी है यद्यपि वल्पारानी स्वयं अभी गिंगटोली में ही है ।" लाटू ने आज्ञापालन की और वह ज्योंरगली गया जहाँ उसने राजा को एक बड़ी सेना के साथ देखा । उसने पूछा आप लोग कौन हैं और उन्होंने उत्तर दिया कि हम भगवती के दर्शन के इच्छुक तीर्थयात्री हैं । उन्होंने यह भी बताया कि हम कन्नौजनरेश जसदल के सैनिक हैं । फिर लाटू ने पता लगाया कि उनमें कौन यती थे । यतियों में एक ऋषि भी थे, चन्द्र ऋषि । उन्होंने आगे बढ़ कर यतियों की ओर संकेत किया और कहा कि वे यती और वह स्वयं राजा जसदल की सेना से सम्बन्धित नहीं थे । लाटू ने चन्द्र ऋषि और यतियों को आगे बढ़ने की अनुमति दे दी किन्तु शेष को उसने दैवी दण्ड दिया । उसने राजा को बतलाया कि पवित्र कैलाश को कलुषित करने के अपराध में ही उन लोगों को दण्ड दिया जारहा है । काल बादलों ने आकाश को ढक लिया और सर्वत्र घोर तिमिर छा गया । वर्षा, मेघध्वनि, हिमपात ने मिलकर प्रलय

ढा दिया। ऊपर से लाटू ने पत्थर और लोहे के टुकड़े बरसाना आरम्भ कर दिया। जो रूप-कुण्ड पहुँच चुके थे वे भी शेष न रहे। गिगटोली की नदियों में बाढ़ आ गई। बल्पा-सुलेड़ा जहाँ रानी ने शिशु को जन्म दिया था, बह गया। बाद में कुम्बागढ़ में ग्वालों को बल्पा रानी की अस्थियाँ मिलीं।

सभी अपराधियों के विनाश के उपरान्त तूफ़ान थमा और आकाश स्वच्छ हुआ। लाटू ने भगवती के पास वापस जाकर सारी घटना सुनाई। उन्होंने लाटू की प्रशंसा की। वहाँ पर यती भी उपस्थित थे। भगवती ने उनसे पूछा कि तुम लोग अब कहाँ जाओगे। उन्होंने कहा, "हम लोग व्यापार के काम से हूणदेश जायँगे। हम लोग नमक, सोहागा, ऊनी वस्त्र, चार सींगों वाली गायें, ज्वापा बैल, हुंकारी बकरियाँ और च्याल्पू बकरियाँ खरीदना चाहते हैं।" भगवती ने कहा, "यदि तुम लोग व्यापार के काम से जाना चाहते हो तो जा सकते हो।" फिर उन्होंने उनको सबसे आसान मार्ग बताया और उपयोगी निर्देश दिए। "तुम्हें हुंकारी बकरियाँ पवित्र गंगा में मिलेंगी। वहाँ से तिब्बत चले जाना तो नमक और सोहागा पा जाओगे। तिब्बत में लामा हूणिया से तुम्हारी भेंट होगी। तिब्बत की स्त्रियाँ हुणादाम-रेहना कहलाती हैं। ये ऊनी वस्त्र तैयार करती हैं, अतः ऊनी वस्त्र तुम वहाँ पर खरीद सकते हो।"

चन्द्र ऋषि और अन्य तीर्थयात्री हूणदेश गए और सभी वस्तुओं खरीदने के बाद वे लौट कर त्रिशूली आए और वहाँ से शील समुद्र, गिगटोली, वैदिनी, जनखल, गौखल, चाया-चोरी, दोबाचोरी होते हुए अंत में ऋषासुर पहुँचे जहाँ वे बस गए। वहाँ के निवासी इन व्यापारियों के पास इतनी सुन्दर वस्तुयें देखकर चकित रह गए। उन्होंने उनके साहस, उद्यम एवं अध्यवसाय की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

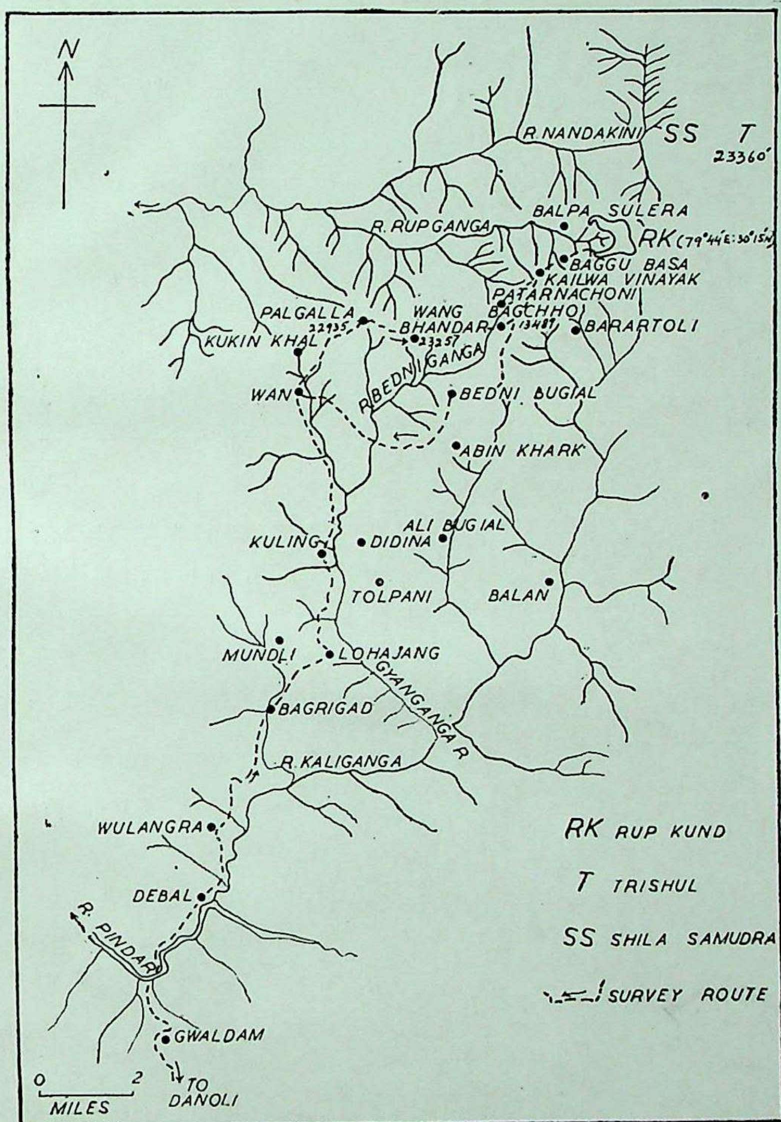
परन्तु भगवती ने तभी से इस व्यापारिक मार्ग को अवरुद्ध कर दिया है और अब तो उसका लेशमात्र चिन्ह भी शेष नहीं रहा।

दूसरी कथा भी कम रोचक नहीं है। देवी पार्वती,जिन्हें स्थानीय बोली में देवी भगवती कहते हैं, शंकर जी से ब्याही गईं। ऋषियों (साधुओं) ने अयोध्या की कुछ भूमि कन्यादान के रूप में भगवती को दी। भगवती और शंकर जी ने कुछ समय तक अयोध्या में वास किया और बाद में उन्होंने पवित्र कैलाश जाने का निश्चय किया। नीचे अपने भक्तगणों तथा अन्य देवी-देवताओं के साथ भगवती और शंकर की कैलाश-यात्रा का वर्णन है।

यह दल भावर होता हुआ डाँगोली पहुँचा जहाँ भगवती की एक बड़ी बहन देवी थालीमाली वास करती हैं। यहाँ प्रति वर्ष सितम्बर में उनके सम्मान में एक बड़ा मेला लगता है। दूर-दूर के लोग इस मेले में आते हैं। डांगोली से दल ग्वालदम पहुँचा जहाँ से त्रिशूली पर्वत का दर्शन किया जा सकता है। कुछ और आगे बढ़ने पर दल की एक सदस्या, देवी नन्दकेसरी, बहुत अधिक थक गईं और उन्होंने वहीं विश्राम करना चाहा। उन्होंने भगवती से प्रार्थना की कि उन्हें वह और आगे न ले जायँ। फलतः, नन्दकेसरी वहाँ ठहर गईं। उस स्थान का नाम उनके नाम पर नन्दकेसरी पड़ गया, या यों कहें कि देवी नन्दकेसरी के सम्मान में जो मन्दिर वहाँ बना है उनके नाम पर यह स्थान नन्दकेसरी के नाम से विख्यात हुआ। दल का अगला पड़ाव मुन्दोली (मुनोली) में पड़ा जहाँ भगवती ने उस स्थान के

भुँयाल (रक्षक) जयपाल से कहा कि दल को त्रिशूली का मार्ग बतलाओ। उसने लोहाजंग और हरपिठवार होते हुए आली का मार्ग निर्दिष्ट किया। आली पहुँचने पर समीपवर्ती गाँव बैदिनी भगवती को बहुत प्रिय लगा। यह गाँव आली से कुछ नीचे है। भगवती ने अपने पति-देव से बैदिनी चलने की प्रार्थना की और वे सब लोग उधर चल पड़े। भगवती ने बैदिनी में एक कुण्ड बनवाना चाहा किन्तु गाँव वाले उन लोगों को वहाँ बसने देने के लिए तैयार न हुए। अतः उन्हें वाण जाना पड़ा। वाण से वे देओलपाटा गए जहाँ से आली दिखाई देता था। दूर से देखने पर आली की सुषमा ने भगवती को मोह लिया और उन्होंने अब यह निश्चय किया कि उनके वास के लिए आली सुन्दरतर स्थान है। अतः वे आली की ओर बढ़े किन्तु वहाँ वे अधिक काल तक न रहे। शीघ्र ही वे बुगियाल के लिए चल पड़े और वहाँ से अबिनीचोरी। इस स्थान से बैदिनी दिखाई पड़ता था और पहले की अपेक्षा अधिक मनोरम। अतः वे लोग फिर वाण और वहाँ से गैरोली आए। गैरोली से तीन मील उत्तर जाने के बाद दल के एक सदस्य डोलीदेव ने इस सतत यात्रा से क्लान्त हो वहीं डेरा जमा दिया और उस स्थान का नाम डोलियाधार पड़ा। दल के शेष लोग बैदिनी पहुँचे। इस बार गाँव वालों ने कोई आपत्ति न की। बैदिनी में उन्होंने एक कुण्ड बनाया और भगवती के सम्मान में एक मन्दिर भी खड़ा किया। शीघ्र ही फिर यात्रा आरम्भ हुई और वे घोड़ाढापुन पहुँचे जहाँ गर्मी के दिनों में चरने के लिए घोड़े भेज दिए जाते थे। अगले पड़ाव पर उनके दल की 'पातरों' (नर्तकियों) ने नृत्य दिखाए। बहुत थकी होने के कारण वे वहीं रुक गईं, अतः वह स्थान पातरनच्योंणी कहलाया। शेष व्यक्तियों ने अपनी यात्रा जारी रक्खी। वे आगे जब विश्राम के लिए ठहरे, कैलदेव ने भगवती से वहीं ठहरने की अनुमति माँगी। भगवती ने अनुमति तो दे ही दी, साथ में यह भी कहा कि तुम्हारी उचित रूप से पूजा हुआ करेगी। यह स्थान कैल्वाविनायक के नाम से प्रसिद्ध है। फिर अगले पड़ाव पर भगवती के वाहन बाघ ने थके होने के कारण आगे बढ़ने से असमर्थता प्रकट की और वह वहीं ठहर गया। यह स्थान बग्गूवाशा कहलाया। अब भगवती को पैदल चलना पड़ा। छिड़ीनाग पहुँचने पर नाग-देवता ने वहीं रुकने की इच्छा दिखाई अतः उन्हें वहीं छोड़ दल आगे बढ़ा। अगला पड़ाव रूपकुण्ड था जहाँ रुप्व देव ठहर गए क्योंकि आगे जाने का उत्साह उनमें शेष न रहा। शेष दल बढ़ता हुआ ज्योंरगली पहुँचा। इस स्थान के बाद से भगवती के दो सेवक देवसिंह और लाटू उन्हें एक डोली में ले चले। इसी सेवा के कारण अब देवसिंह और लाटू भी देवता मान लिए गए हैं और विशेष सम्मान-स्वरूप लाटू भगवती के दाहिने ओर और देवसिंह उनके बायें ओर बैठते हैं। भगवती ने इससे भी अधिक सम्मान उन्हें दिया और कहा कि अब से जो भी यात्री उनके दर्शनार्थ आएगा, देवसिंह और लाटू को रिंगाल या मालू का एक-एक छत्र और तीन-तीन आने भेंट करेगा। दल ज्योंरगली से बढ़ कर शीलसमुद्र पहुँचा। (शील का अर्थ है शिला; यहाँ एक बहुत बड़ी शिला है)। यहाँ पर लोग साधारणतया श्राद्ध करते और पिण्डदान देते हैं। इस स्थान से वे धूजाओकली और वहां से त्रिशूली गये और त्रिशूली में अंततः बस गए।

रूपकुण्ड से सम्बन्धित लोकसाहित्य से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि रूपकुण्ड के समीप एक दर्रा और तिब्बत जाने के लिए एक मार्ग था। रूपकुण्ड में प्राप्त अस्थिढेर का



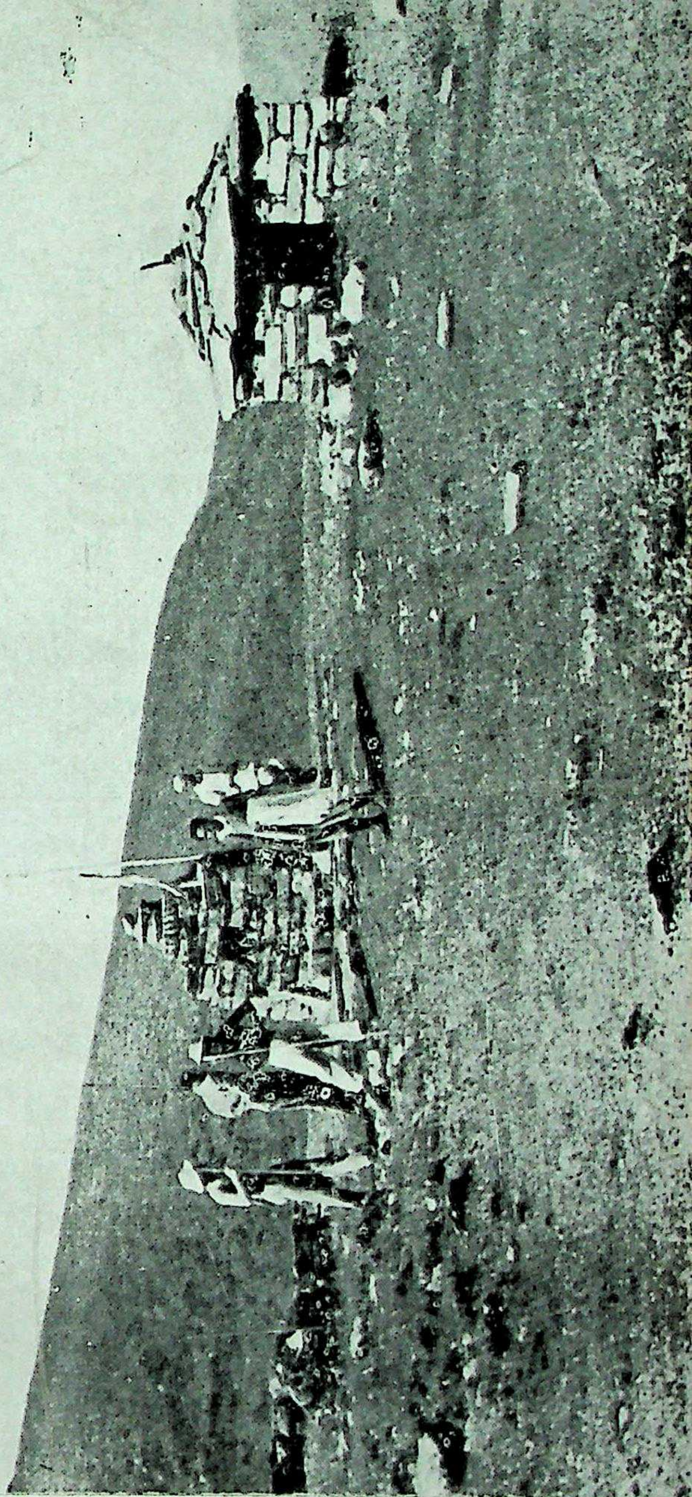
SOURCE S.O.I., SHEETS, $53\frac{N}{15}$ & $53\frac{N}{16}$

रूपकुण्ड का मार्ग

रूपकुण्ड आरोहक दल

(बांयें से) श्री बी० एस० तिवारी, डा० बी० एन० महरोत्रा, श्री अशोक घोष, डा० जी० एम० कुरुलकर, डा० डी० एन० मजुमदार, श्री जगदीश शर्मा, श्री कैलाश सक्सेना, श्री दिलीप सेन, डा० एम० एन० बोस, श्री रमा जोशी।

(नीचे) त्रिशूल पर्वत श्रृंखला



बैदिनी के मन्दिर

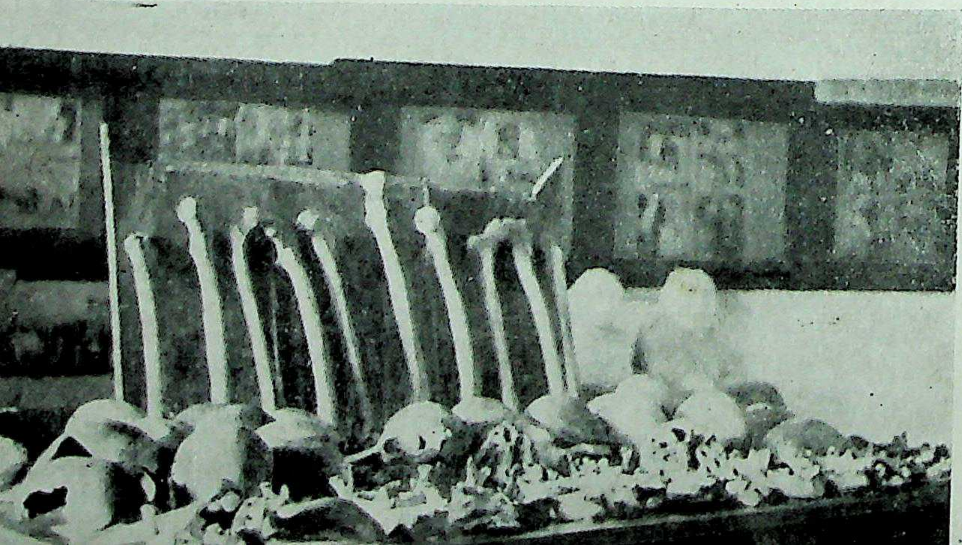
(ऊपर) उत्तरी धार से दिखाई देता हुआ रूप कुण्ड
(नीचे) कैल्वा विनायक रूपकुण्ड के मार्ग में १४५०० फीट की ऊँचाई पर



दिन भर के कार्य के बाद रूपकुण्ड में

(ऊपर) रूपकुण्ड से प्राप्त चमड़े की अनेक चप्पलों में से दो

(नीचे) रूपकुण्ड से प्राप्त अस्थियों में से कुछ



रहस्य जिस दुर्घटना या जिन दुर्घटनाओं के इतिहास के गर्भ में छिपा हुआ है उसके उद्घाटन की सम्भावनाओं के लिए यह एक अच्छा सूत्र हो सकता है।

रूपकुण्ड की दुर्घटना के रहस्य को सुलझाने के लिए कई मत व्यक्त किए गए हैं। राजा जसदल के सैनिकों के नाश की कथा में विश्वास करनेवाले कहते हैं कि वे शिखर पर से सीधे झील में आकर गिरे। उनका कथन है कि ज्योंरगली दर्रे की ओर ही रूपकुण्ड के ८०° वाले ढलानों पर ही अस्थियाँ मिली हैं। परन्तु केवल लोकगीतों के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता और झील में सीधे गिरने की बात भी समझ में नहीं आती क्योंकि हमें केवल अस्थियाँ और खोपड़ियाँ मिली हैं।

एक अन्य मत है कि हर १२ वर्ष पर नन्दा देवी की यात्रा करने की जो पवित्र परम्परा चली आ रही है ऐसी ही किसी यात्रा से वापस आते समय दैवी आपदाओं के कारण कोई यात्रीदल यहाँ विनष्ट हो गया था।

हम पहले कह आये हैं कि उपमंत्री श्री जगमोहन सिंह नेगी ने रूपकुण्ड दुर्घटना का सम्बन्ध १८४१ में जोरावर सिंह की सेना के नाश से जोड़ा है। वह ज़ोरावर सिंह के बारे में कहते हैं--"ऐसा विवरण मिलता है कि ज़ोरावर सिंह की पत्नी दुर्बलावस्था में थी और वह वापस भेज दी गई और लेपू झील के दर्रे के पास पहुँची। ज़ोरावर सिंह की पराजय और मृत्यु के बाद उसके सैनिकों ने इस दुर्गम प्रदेश से भागने के लिए विभिन्न मार्ग अपनाए। कुछ जंगसाकर दर्रे से होकर भागे, दूसरे नीती दर्रे से। ज़ोरावर सिंह की पत्नी के लिए एकमात्र मार्ग लेपू झील के दर्रे से हो कर अल्मोड़ा पहुँचता था। उसके अंगरक्षकों ने निश्चय ही व्यापारियों का वेश धारण किया होगा और अपने शस्त्र लेपू झील के दर्रे के पास छोड़ दिए होंगे। संभव है कि वे रूपकुण्ड के समीप नष्ट हो गए।" हाल में डा० श्रीमती बी०के० बाल ने इस मत को निराधार सिद्ध कर दिया है। वह लिखती हैं—"ज़ोरावर सिंह १२ दिसम्बर, १८४१ को मारा गया। उसके परिवार ने चांग लूचे ला दर्रे से होकर अल्मोड़ा पहुँचने की चेष्टा नहीं की वरन् लेह ले जाया गया, जहाँ सेनानायक की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र उत्पन्न हुआ। बाद में उसके परिवार को उसके अपने गाँव बीजापुर पहुँचा दिया गया। (ज़ोरावरसिंह की मृत्यु का समाचार मिलने पर) उसकी सबसे छोटी पत्नी आशादेवी महाराज गुलाब सिंह के पुत्र राजकुमार ऊधम सिंह की उपस्थिति में सती हुई।"

इन विभिन्न मतों के सन्दर्भ में वैज्ञानिक प्रमाणों पर विचार करना श्रेयस्कर होगा। नृशास्त्री ही इस प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए सर्वश्रेष्ठ अथवा योग्य होते हैं। जितना भी वैज्ञानिक आधार पर पता किया जा सकता था किया जा चुका है और परिणाम समालोचनात्मक मूल्यांकन के हेतु प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

प्रयोगशाला में तीन मास तक रूपकुण्ड की दी हुई वस्तुओं का अध्ययन करने के बाद हम निम्नलिखित अस्थायी परिणामों पर पहुँचे। इस कार्य में शरीररचनाविशेषज्ञों, दन्तविशेषज्ञों और प्राचीन-प्राणिशास्त्रियों ने परस्पर सहयोग दिया।

अस्थियों, खोपड़ियों और लम्बी-लम्बी हड्डियों को देखने से पता चलता है कि वे एक ऐसी प्रजाति प्रकार की हैं जो न तो स्थानीय है न तिब्बती, वरन् एक ऐसे प्रजातीय प्रकार से सम्बद्ध है जिसका विशिष्ट क्षेत्र पंजाब अथवा उससे भी पश्चिम का प्रदेश है। वह सिख

प्रजातीय प्रकार से अधिक मिलती है। इन लोगों का कद काफी ऊँचा था; सिर लम्बे से लेकर उप-मध्यम थे, खोपड़ी का ऊपरी भाग उठा हुआ था, माँसपेशियाँ बहुत विकसित थीं, और इनकी खूराक बहुत अच्छी रही होगी। जबड़ों से भी बल का पता चलता है। ये लोग कड़ी चीज़ें खाने के आदी थे जिनके लिए खूब अच्छी तरह से चबाना आवश्यक है परन्तु पान चबाने का कोई प्रमाण नहीं मिल सका। दाँतों में चित्तियाँ पड़ी हैं जिससे अनुमान किया जा सकता है कि ये लोग बचपन से किसी 'फ़्लोराइड' क्षेत्र में रहते थे। ऐसी अवस्था पंजाब के ज़िलों, उदाहरणार्थ पश्चिमी पाकिस्तान के सीमापवर्ती क्षेत्रों में पाई जाती है।

हम अंतिम रूप से परिणामों पर नहीं पहुँच सके क्योंकि अस्थियों की कम संख्या तथा भूस्तरज्ञान के अभाव में हम अपने सब सन्देहों को दूर न कर सके। हमने सोचा कि सर्वप्रथम झील की स्थिति तथा आकार-प्रकार और स्तरों का अधिक वैज्ञानिक ज्ञान अपेक्षित है। दूसरे अधिक संख्या में खोपड़ियों और यदि सम्भव हो तो उपकरणों का एकत्रित किया जाना आवश्यक था। यह बिना उस स्थल पर गए सम्भव न था। उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री डॉ० सम्पूर्णानन्द ने रूपकुण्ड जाने के लिए एक खोजदल के व्यय को वहन करने का प्रस्ताव रखा और हमने साभार इसे स्वीकार किया। मई १९५६ में दस वैज्ञानिकों का एक दल रूपकुण्ड-यात्रा पर चल पड़ा। इसमें बम्बई के एस० जे० डी० मेडिकल कॉलेज के शरीररचनाशास्त्र के एक वरिष्ठ प्रोफेसर, एक योग्य भूगर्भशास्त्री, एक प्रागैतिहासकार, एक प्राचीन-प्राणिशास्त्री, एक भूरसायनवेत्ता, विश्वविद्यालय के मुख्य मेडिकल ऑफिसर और हमारे विभाग के कई सांस्कृतिक और भौतिक नृशास्त्री सम्मिलित थे। वाँच्छित स्थल की खुदाई और अध्ययन के लिए ऋतु प्रतिकूल सिद्ध हुई और यद्यपि उक्त दल झील तक पहुँच गया, कोई काम नहीं किया जा सका क्योंकि झील में कई फीट हिम जमा हुआ था। परन्तु उसी वर्ष सितम्बर मास में मेरे नेतृत्व में दूसरा खोजदल रूपकुण्ड गया जो पहले दल से छोटा था। हम झील पहुँचे, हमने अस्थियाँ और उपकरण खोद कर एकत्रित किए और हम लौटे। हमारे पास बहुत बड़ी मात्रा में खोपड़ियाँ और अस्थियाँ, उपकरण, बालों के नमूने, कपड़े, गहने, बर्तन, तम्बू के सामान, खूँटियाँ, कीलें और चाकू के फल थे। कोई शस्त्र नहीं मिले। इस यात्रा की सफलता में हमें अल्मोड़ा के ऐडवोकेट श्री शेरसिंह और देवाल के अन्न-व्यापारी श्री चमन लाल से विशेष सहायता मिली। इस खोजदल के सदस्यों में मानवविज्ञान विभाग की ओर से श्री रिपुदमन सिंह, डॉ० मिहिर सेन, श्री चन्द्रसेन, श्री रमाप्रसाद जोशी और रघू चपरासी थे।

हमारी प्रयोगशाला में अस्थियों का अध्ययन किया गया, उपकरणों की परीक्षा हुई, कपड़े और चमड़े के टुकड़े विशेषज्ञों को भेजे गए। अस्थियों की विभिन्न परीक्षायें की गईं। अस्थियों के गूदे और उनसे चिपटे हुए मांस के अध्ययन से रक्तसमूहों का पता किया गया, यह जानने के लिए कि वे वस्तुयें एक ही स्तर से पाई गई हैं या नहीं, फ्लोरीन परीक्षा की गई, खोपड़ियाँ और अस्थियाँ नापी गईं, नाप से प्राप्त आँकड़ों को संख्याशास्त्र की सहायता से व्यवस्थित किया गया, बालों के 'क्रॉस सेक्शन' की परीक्षा की गई, दाँतों और जबड़ों के एक्स'रे लिए गए, और अन्त में रेडियोकारबन काल-निर्धारण के लिए कुछ अस्थियाँ मिशिगन विश्वविद्यालय को भेजी गईं। सितम्बर १९५७ में विशेषज्ञों की राय के लिए नाप-सम्बन्धी आँकड़े, फ़ोटोग्राफ, बालों के नमूने, कपड़े और अन्य उपकरण योरप ले जाए गए।

दूसरे शब्दों में, सभी आवश्यक प्रयोग और परीक्षायें की गईं, कुछ छोड़ा नहीं गया, और अब हम समालोचनात्मक मूल्यांकन के लिए परिणाम प्रस्तुत कर सके हैं।

रूपकुण्ड से प्राप्त सूखे मानवीय मांस के कुछ नमूनों से 'इनहिबिशन' विधि द्वारा रक्त-समूह निश्चित करने की चेष्टा की गई। ऐसा विचार है कि इनकी उत्पत्ति भिन्न-भिन्न है और 'इनहिबिशन' की मात्रा में थोड़े-थोड़े अन्तरों के आधार पर प्रजातीय विभेद मान लिए गए हैं। परन्तु इससे हमें यह नहीं मान लेना चाहिए कि इनमें कुछ नमूनों का उद्गम एक नहीं है। हाई टाइटर या उच्च शक्ति ए-विरोधी सीरा से प्रारम्भ में कण्ट्रोल करने के उपरान्त ए-विरोधी और बी-विरोधी सीरा, और एक 'ओ' दाता के सीरा से परीक्षायें दी गईं। परिणामों से 'ए' रक्त की प्रबलता का पता चलता है, और इस तथ्य से इस बात की पुष्टि होती है कि रूपकुण्ड में नष्ट होने वाले लोगों की उत्पत्ति पश्चिमोत्तर प्रदेश में हुई थी। स्थानीय लोगों के रक्त में 'बी' की ही अधिकता होती है जैसा कि भारतवर्ष के तथा अन्य देशों के मंगोल प्रजाति के लोगों में पाया जाता है।

अस्थियों के अन्दर फ़्लोरीन, ऐश, कैल्शियम और फ़ास्फ़ोरस की मात्रा निर्धारित करने के लिए फ़्लोरीन परीक्षायें की गईं। देखा गया कि फ़्लोरीन की मात्रा भिन्न-भिन्न है, यथा--४१११·३, २५४८·५, १७३२·८, १६७४·५, १६३८·५, १४२७·५ और १२१७·३। 'ऐश' ७३·८३ से ५५·२३ प्रतिशत तक था, कैल्शियम ४६·६४ से ३७·३४ f. f. m. और फ़ास्फ़ोरस का १८·५० से १५·८६ f. f. m.। इन सब परीक्षाओं के आधार पर इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि फ़्लोरीन का परिणाम भिन्न-भिन्न है, अतः ये सब अस्थियाँ एक ही स्तर की नहीं हो सकतीं न एक ही अस्थिढेर के अंश हैं।

बम्बई के एस० जे० डी० मेडिकल कॉलेज के प्रो० कुरूलकर ने, जो मुझे सहयोग देते रहे हैं, कुछ अस्थियों के घनत्व की जाँच की। ऐसा उन्होंने इसलिए किया क्योंकि उन्होंने देखा कि अस्थियों में 'इम्प्रेग्नेशन' की मात्रा असमान है। उन्होंने बारह 'पेराइटल' हड्डियों की परीक्षा की और देखा कि उनका घनत्व २·८५ से १·३५ तक है। इस तथ्य को भूस्तर-ज्ञान की पर्याप्त जानकारी के अभाव में समझ सकना कठिन है, तथापि इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रूपकुण्ड में ये अस्थियाँ एक ही समय में जमा न हो कर विभिन्न समयों में जमा हुईं। 'कंट्रोल्स' की अपेक्षा जो अस्थियाँ अधिक घनत्व को प्राप्त कर चुकी हैं, वे 'फ़ॉसिल' बनने की क्रिया में मालूम होती हैं, और जिन अस्थियों का घनत्व कम है वे सम्भवतः बाद में जमा हुईं। प्रो० कुरूलकर का विचार है, और मैं उनसे पूर्णतया सहमत हूँ, कि कुछ खोपड़ियों की दरारों की अवस्था से यह पता लगता है कि कुछ लोगों, कम-से-कम दो लोगों, की खोपड़ियों पर आघात पहुँचे थे और वे लोग आहत होने के बाद कुछ देर तक अवश्य जीवित रहे थे।

रूपकुण्ड से प्राप्त मानवीय बालों की भी परीक्षायें की गईं। कुछ को देखने से स्पष्टतया तथा विशिष्ट रूप से यह पता लगता है कि उनकी जड़ें टेढ़ी हैं और वे कभी खोपड़ी पर 'ऑर्गेनिक टिस्यु' में गड़ी हुई थीं। इन बालों के जो अन्य स्लाइड तैयार किए गए उनमें इनकी जड़ों के छोटे-छोटे अवशेष ही मिले, और कुछ बालों के कैंची से कटे होने के चिह्न मिले। बालों के कुछ गुच्छों को देखा गया तो पता चला कि हर अलग-अलग बाल उलट-

पलट गया है, और कुछ बालों की जड़ें उस स्थान पर हैं जहाँ अन्य बालों के मुक्त सिरे हैं। इस प्रकार रूपकुण्ड में कैंची के कटे हुए और सही-सलामत जड़ों वाले दोनों प्रकार के बाल पाए गए हैं। इससे संभवतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये बाल दुर्घटनाग्रस्त व्यक्तियों के ही हैं और किसी संस्कार की पूर्ति अथवा भेंट चढ़ाने के लिए ये काटे गए थे।

हमारे दल द्वारा रूपकुण्ड से लाई गई खोपड़ियाँ और अस्थियाँ सम्भवतः ६०-७० व्यक्तियों की हैं, यद्यपि बिलकुल ठीक संख्या बताना सम्भव नहीं है क्योंकि इनमें से अधिकांश खोपड़ियाँ और अन्य अस्थियाँ अपूर्ण हैं और यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक व्यक्ति के समझे जाने वाले टुकड़े किसी अन्य व्यक्ति के नहीं हैं। लोगों के प्रजातीय सम्बन्ध को स्थिर करने के लिए अभी तक दो सबसे महत्वपूर्ण लक्षण, कद और खोपड़ी का आकार, उसकी लम्बाई और चौड़ाई, माने जाते हैं। किसी खोपड़ी की चौड़ाई उसकी लम्बाई का कितना प्रतिशत है इसे 'सिफेलिक इंडेक्स' कहते हैं। १९ खोपड़ियों में जो वयस्कों की विदित होती हैं, इसका पता लगाया जा सका है। औसत 'सिफेलिक इंडेक्स' ७४.२ है और इसमें ४.२८ तक का स्टैण्डर्ड व्यतिक्रम है। इस विषय में बहुत सतर्कता अपेक्षित है। हम जानते हैं कि कुछ खोपड़ियाँ अपूर्ण हैं। उन्हें अलग करने पर ११ खोपड़ियाँ बचती हैं जिनका औसत 'सिफेलिक इंडेक्स' ७४. है और स्टैण्डर्ड व्यतिक्रम २.५९।

उत्तरी अमेरिकन इंडियन मानव के ३५ सिरीज़ के 'सिफेलिक इंडेक्स' में औसत स्टैण्डर्ड व्यतिक्रम ३.३६ पाया गया और २१ मध्य एशियाई पुरुषों में यह औसत ३.७१ था। चूंकि किसी समान प्रजातीय समूह में औसत स्टैण्डर्ड व्यतिक्रम ३.७१ से अधिक नहीं होता, अतः २.५९ औसत स्टैण्डर्ड व्यतिक्रम वाले रूपकुण्ड में नष्ट हुए लोगों को एक प्रजातीय समूह का मानना चाहिए। निश्चित सिद्धान्तों को लागू कर लम्बी अस्थियों के अध्ययन से हम इन लोगों का कद बता सकते हैं। रूपकुण्ड के पुरुषों का औसत कद १७२.० सेण्टीमीटर (६७.७ इंच) है, जो भारत के किसी भी समूह के लिए काफी बड़ा है। १७२.० सेण्टीमीटर औसत कद और ७४.० 'सिफेलिक इंडेक्स' की तुलना जब समीपवर्ती क्षेत्रों के निवासियों के कद और 'सिफेलिक इंडेक्स' से की जाय तो प्रजातीय सम्बन्धों के विषय में कुछ निश्चित परिणाम निकलते हैं। प्रो० जी० एम० मोरण्ट, जो इस समय क्रेनियोमेट्री (खोपड़ी की नाप), ऑस्टियोमेट्री (अस्थियों की नाप) और ऐन्थ्रोपोमेट्री (जीवित मनुष्यों की नाप) के सबसे बड़े विशेषज्ञ हैं, मेरे इस निष्कर्ष से सहमत हैं कि रूपकुण्ड के लोग प्रजातीय दृष्टि से एक थे और ३०० मील पश्चिमोत्तर स्थित ऊपरी स्वात के लोगों से बहुत दूर के नहीं थे। वे वास्तव में ऊपरी स्वात के कुछ लोगों, यथा तोरवालों से मिलते-जुलते हैं। कुछ खोपड़ियाँ और खोपड़ियों के टुकड़े एक भिन्न प्रजातीय उत्पत्ति की ओर इंगित करते हैं परन्तु इनमें से अधिकांश में खोपड़ी के पिछले भाग की हड्डी (ऑक्सिपिटल) पर असाधारण रूप से विकसित क्रैस्ट है। इस हड्डी का विशेष रूप से उभरा होना संकेत करता है कि ये हड्डियाँ उन बोझा ढोने वालों की हैं जो सिर पर बोझा ढो कर चलते थे जिसके कारण यह उभार बन गया। इनका आकार-प्रकार देखने से ऐसा लगता है कि ये भोटिया कुलियों की हैं यद्यपि इनकी संख्या बहुत कम है।

हर जीवित प्राणी में भार १४ वालें कारबन (कारबन १४) के 'रेडियोऐक्टिव आइसोटोप्स' के अति सूक्ष्म चिह्न पाये जाते हैं। यह रेडियोऐक्टिव कारबन प्रत्यक्ष या

अप्रत्यक्ष रूप से वायुमण्डल द्वारा तब प्राप्त होता है जब बहुत अधिक ऊँचाई पर वायुमण्डलीय नाइट्रोजन के साथ कॉस्मिक किरण से उत्पन्न न्यूट्रान के टकराने से रेडियोऐक्टिव कारबन बनता है।

रासायनिक दृष्टि से कारबन १४ का साधारण कारबन से भेद नहीं कर सकते। फलतः यदि किसी जीवित प्राणी (उदाहरणार्थ पौदे) से कारबन निकाला जाय तो उसमें उसके अन्दर स्थित कारबन १४ के कारण बहुत कम ही रेडियोऐक्टिविटी देखने को मिलेगी। कुछ सीमाओं के अन्दर सभी जीवित पदार्थों में यह रेडियोऐक्टिविटी स्थायी रहती है और सहस्रों वर्षों से स्थायी रही है। निष्क्रिय रहने पर कारबन १४ का 'अर्द्ध-जीवन' लगभग ५,६०० वर्ष है। इसका अर्थ है कि हमारे पास यदि कारबन १४ कुछ मात्रा में इस समय हो तो ५,६०० वर्ष के बाद उसका आधा अंश शेष रहेगा।

जीवित प्राणियों के मरने पर वह प्रक्रिया जिसके द्वारा वे वायुमण्डल से अपने कारबन अणुओं को बदलते हैं बन्द हो जाती है, उनके अंदर कारबन १४ और साधारण कारबन का अनुपात स्थिर नहीं रह जाता, और (अनुपात) विनाश की निश्चित गति के अनुसार कम होता जाता है। अतः मृत प्राणि-पदार्थों से निकाले गए कारबन की रेडियोऐक्टिविटी से उस काल का पता लगाया जा सकता है जब यह जीवित प्राणी का ही एक अंश था। रेडियोकारबन काल-निर्धारण विधि अवशिष्ट रेडियोऐक्टिविटी के नापे जाने पर आधारित है।

अंत में अस्थियों के काल पर विचार कर लें। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, कारबन १४ काल-निर्धारण की सबसे पक्की विधि है। रूपकुण्ड से प्राप्त वस्तुओं का लगभग सही काल जानने के लिए हमने अस्थियों के नमूने मिशिगन विश्वविद्यालय की फिनिक्स स्मारक रेडियोकारबन प्रयोगशाला में भेज दिए। मिशिगन में ऐन आर्बर में स्थित मानव विज्ञान संग्राहालय के सञ्चालक प्रो० जे० बी० ग्रिफिन ने हमें परिणाम सूचित किया। रेडियोकारबन प्रयोगशाला के प्रो० एच० आर० केन ने काल-निर्धारण के हेतु अस्थियों की परीक्षा की और हमें सूचित किया कि ये नमूने बहुत अच्छे थे और परीक्षा के परिणाम बराबर एक ही निकले, फलतः निर्धारित काल सही होना चाहिए। रेडियोकारबन परीक्षा से ज्ञात हुआ कि अस्थियाँ ६५० वर्ष पुरानी हैं। इस काल में इधर या उधर अधिक से अधिक १५० वर्षों का हेरफेर सम्भव है।

इस परिणाम से अधिकांश मत गलत सिद्ध हो जाते हैं, विशेष रूप से जोरावर सिंह सम्बन्धी मत। तीर्थयात्री मत, विशेष रूप से राजा जसदल से सम्बन्धित, भी मानना कठिन है क्योंकि (१) इनका प्रजातीय सम्बन्ध ऊपरी स्वात और हुंजा घाटी, पश्चिमोत्तर भारत के लोगों से है न कि स्थानीय मंगोल प्रजाति के लोगों से। कन्नौजवासियों की बात भी निराधार ही है क्योंकि रूपकुण्ड के लोगों का कद ऊँचा था, औसतन ६७ इंच या ५' ७", जो उत्तर प्रदेश के मध्य में नहीं पाया जाता। रक्तसमूह का प्रमाण भी कन्नौज के लोगों का न होना सिद्ध करता है। (२) तीर्थयात्री चप्पल या स्लिपर पहन कर नहीं जाते। इनकी बनावट और आकार भी ऐसे हैं जो प्रायः उत्तर प्रदेश के जिलों में देखने को नहीं मिलते। (३) हमने जिन तम्बुओं और उपकरणों की खोज की है उनसे भी राजा जसदल का कैलाश की तीर्थयात्रा वाला मत त्रुटिपूर्ण सिद्ध होता है।

परिणाम—हमारे अंतिम परिणाम ये हैं:

१—अस्थियां ६५० वर्ष पुरानी हैं। इस काल में इधर या उधर १५० वर्षों का हेरफेर सम्भव है।

२—अस्थियों से पता चलता है कि रूपकुण्ड दुर्घटना के शिकार व्यक्ति एक समान प्रजातीय प्रकार के थे और वे पश्चिमोत्तर भारत के लोगों, स्वात और हुंजा घाटी के लोगों से मिलते-जुलते थे।

३—अधिकांश हड्डियाँ स्थानीय लोगों, भोटियों और गढ़वालियों से किसी प्रकार की उत्पत्ति-सम्बन्धी समानता व्यक्त नहीं करतीं।

४—कुछ खोपड़ियाँ, जिनके पिछले भाग पर असाधारण रूप से उभरा हुआ क्रैस्ट है, सम्भवतः बोझा ढोने वालों की थीं जो भोटिया हो सकते हैं।

५—कुछ लोगों की खोपड़ियों पर चोटें आईं परन्तु आघात के उपरान्त वे कुछ काल तक जीवित रहने के बाद मरे।

६—बालों की परीक्षा से ज्ञात हुआ कि कुछ बाल कैंची से कटे हुए थे और सम्भवतः पूजा में भेंटस्वरूप वे झील में डाल दिए गए थे।

७—फ़्लोरीन परीक्षण, बालों की रचना के अन्तर, आपेक्षिक घनत्व परीक्षण तथा यह तथ्य कि कुछ अस्थियों में मांस चिपका हुआ था और कुछ में विभिन्न मात्रा में 'इम्प्रेग्नेशन' हो चुका था, ये सारी बातें इंगित करती हैं कि सभी अस्थियाँ पृथ्वी की एक स्तर की ही नहीं हैं, तथा उन अस्थियों के जिनमें बहुत अधिक 'इम्प्रेग्नेशन' हो चुका है और उनके जिनसे मांस चिपका हुआ था, बीच कुछ काल अवश्य बीता होगा।

इन सब बातों और वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर प्रतीत होता है कि रूपकुण्ड दुर्घटना के शिकार भारत के पश्चिमोत्तर भाग के निवासी थे, वे लगभग ६०० वर्ष पूर्व नष्ट हुए, वे एक समान प्रजातीय समूह के रहे होंगे, सम्भवतः वे किसी आक्रमणकारी सेना के सैनिक थे, उन्हें तिब्बत के अभियान में प्रतिकूल ऋतु का सामना करना पड़ा और प्राकृतिक आपदाओं ने उन्हें समाप्त कर दिया। मेरा विचार है कि जो अस्थियाँ हमें मिली हैं वे उस अस्थिराशि का एक अंश मात्र हैं जो झील में बड़े पत्थरों के नीचे दबी पड़ी है। जब तक हम इन सभी अस्थियों को बाहर न निकालें, अंतिम रूप से कोई मत व्यक्त करना असम्भव है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि लगभग ६०० वर्ष पूर्व मोहम्मद तुग़लक़ ने एक सैन्यदल तिब्बत भेजा था और वह प्राकृतिक विपत्तियों में फँस कर तिब्बत के मार्ग के दर्रों में समाप्त हो गया था। हम इस सम्भावना की भी अवहेलना नहीं कर सकते कि अस्थियाँ विभिन्न कालों की हैं। विभिन्न स्तरों में विभिन्न कालों की अस्थियाँ पाई जाती हैं, परन्तु हाल के मृत व्यक्तियों की अस्थियों ने प्राचीन काल की अस्थियों से मिल कर रूपकुण्ड के रहस्य को जन्म दिया है। शस्त्रों का अभाव विशेष महत्वपूर्ण नहीं है, क्योंकि हर लड़ाई-झगड़े के बाद विजेता शस्त्रों को उठा ले जाते हैं। स्त्रियों का पाया जाना भी समझाया जा सकता है। सेनायें भी साथ में स्त्रियों को ले जाती हैं।

मुद्रक :—नवज्योति प्रेस, पानदरीबा, चारबाग, लखनऊ। फ़ोन : ३६४६

Published by the Ethnographic and Folk-Culture Society U. P., Lucknow, and
Printed at Nav Jyoti Press, Pandariba, Charbagh, Lucknow.

प्राच्य मानव वैज्ञानिक

एथनोग्राफिक एण्ड फ़ोक कल्चर सोसाइटी, उत्तर प्रदेश, लखनऊ का अर्धवार्षिक मुखपत्र है।

सोसाइटी का उद्देश्य नृशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय अनुसंधानों को प्रोत्साहन देना, इस प्रदेश की लोकसंस्कृतियों का अध्ययन, उत्तर भारत और विशेषतः उत्तर प्रदेश के सामाजिक और आर्थिक जीवन की गवेषणा, और इस प्रदेश में रहनेवाली विभिन्न जातियों, उपजातियों और जनजातियों के जीवन और संस्कृति का वैज्ञानिक विश्लेषण।

सोसाइटी की कार्य-समिति

वार्षिक शुल्क ४)

इस विशेषांक का मूल्य ३)

लेखकों से निवेदन

(१) प्राच्य मानव-वैज्ञानिक में केवल मौलिक लेख तथा नोट ही प्रकाशित किये जाते हैं। (२) प्राच्य मानव-वैज्ञानिक में लेख उसी दशा में स्वीकार किए जाते हैं जब वे लेख या उनका अनुवाद कहीं अन्यत्र प्रकाशित न हुआ हो या प्रकाशित होने के लिए भेजा न गया हो। (३) लेख, कागज के एक ओर टाइप किया गया अथवा स्पष्ट लिखा हुआ होना चाहिए। (४) अन्य लेखकों के उद्धरण लेख के पाठ में यथास्थान और फ़ुटनोट लेख के अन्त में होने चाहिए। (५) लेख में प्रयुक्त अन्य भाषाओं या हिन्दी की बोलियों के शब्दों के अक्षरविन्यास का विशेष ध्यान रखें। (६) लेख की एक प्रति अपने पास रखें। (७) रेखाचित्र अथवा फ़ोटोग्राफ़ तभी दें यदि वे लेख के लिए नितान्त आवश्यक हों। रेखाचित्र ड्राइंग-कागज़ पर काली स्याही से बने हुए और फ़ोटोग्राफ़ ग्लॉसी पेपर पर होने चाहिए।

लेख निम्न पते पर भेजिए:

सम्पादक, प्राच्य मानव-वैज्ञानिक,
एन्थ्रॉपॉलॉजी विभाग,
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ (उत्तर प्रदेश)

एथनोग्राफ़िक एण्ड फ़ोक कल्चर सोसाइटी, उत्तर प्रदेश

के अंग्रेज़ी प्रकाशनः

मोनोग्राफ़

१. अफ़ेअर्स ऑव ए ट्राइब, लेखक—डी० एन० मजुमदार

(दक्षिण बिहार की एक प्रमुख जनजाति—हो का नृशास्त्रीय अध्ययन) मूल्य 23.50

२. दि कमार, लेखक—एस० सी० दुबे

(छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, की एक छोटी वन्यजाति का वैज्ञानिक विवरण) मूल्य 12. 50

३. दि क्रिमिनल ट्राइब्स, लेखक—बी० एस० भार्गव

मूल्य 8. 50

लोकगीत-संग्रह (डी० एन० मजुमदार द्वारा सम्पादित)

१. स्नोबॉल्स ऑव गढ़वाल, लेखक—एन० एस० भंडारी मूल्य 3. 75

२. लोनली फ़रोज़ ऑव दि बॉर्डरलैंड, लेखक—के० एस० पांगटे मूल्य 5. 00

३. फ़ील्ड साँग्स ऑव छत्तीसगढ़, लेखक—एस० सी० दुबे मूल्य 3. 75

मुखपत्र (त्रैमासिक)

दि ईस्टर्न ऐन्थ्रॉपॉलॉजिस्ट (सम्पादक—डी० एन० मजुमदार वार्षिक मूल्य 15. 00

विदेश सम्पादक—सी० वॉन फ़्यूरर हैमैनडॉर्फ़) एक अंक 4. 00
